तृतीयोऽध्यायः

ऋषिः—विरूप आङ्गिरसः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

ज्ञान, नैर्मल्य, अर्पण

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन् हव्या जुहोतन॥१॥

१. गत अध्याय की समाप्ति पर आचार्य के गर्भ में रहकर एक कुमार के मस्तिष्क में ज्ञानसूर्य के उदय होने का उल्लेख हुआ था। प्रस्तुत मन्त्र में ज्ञानसूर्य की दीप्तिवाला यह कुमार अपनी ज्ञानदीप्ति से प्रभु की परिचर्या करता है। २. **समिधा**=(सम्+इन्ध्=दीप्ति) ज्ञानदीप्ति से **अग्निम्**=अग्रेणी प्रभु की **दुवस्यत** =परिचर्या करो। प्रभु को यह ज्ञानीभक्त ही तो आत्मतुल्य प्रिय है। ३. **घृतैः**=मलों के क्षरण—दूरीकरण से (घृ—क्षरण) **अतिथिम्**=(अत सातत्यगमने, गमन=प्राप्ति) सतत दीप्त उस प्रभु को—सदा से हृदय में निवास करनेवाले अन्तर्यामी को—**बोधयत**=उद्बुद्ध करो। प्रभु की ज्योति मल के आवरण से अदृष्ट हो रही है, मलावरण के हटते ही वह उद्बुद्ध-सी हो जाती है। ४. **अस्मिन्**=इस उद्बुद्ध प्रभु-ज्योति में **हव्या**=अपनी सब हवियों को—अपने सब उत्तम कर्मों को—**आजुहोतन**=आहुत कर दो। अपने सब यज्ञादि कर्मों को प्रभु-चरणों में अर्पित करनेवाले बनो। ५. सामान्य अग्निहोत्र में भी क्रम यही होता है कि समिधाओं से अग्नि को दीप्त करते हैं—घृत से उसे उद्बुद्ध करते हैं और फिर उसमें हव्यों को डालते हैं। यहाँ अध्यात्म यज्ञ का क्रम भी यही है कि ज्ञानदीप्ति से प्रभु की उपासना करें—इस ज्ञानदीप्ति में 'पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक' के पदार्थों का ज्ञान ही तीन समिधाएँ कहलाती हैं। उसके बाद यहाँ वासनात्मक मलों के क्षरणरूप 'घृत' से अपने अन्दर विद्यमान उस प्रभु का उद्बोधन होता है और इस प्रभु के चरणों में यह ज्ञानीभक्त अपने सब यज्ञात्मक कर्मों को अर्पित करता है। ६. इस प्रकार ज्ञानदीप्त, निर्मलान्तःकरण, प्रभु-चरणों में अपना अर्पण करनेवाला यह व्यक्ति विशिष्ट ही रूपवाला हो जाता है, अतः 'विरूप' कहलाता है और अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रस के सञ्चार के कारण यह 'आङ्गिरस' कहलाता है।

भावार्थ—हम ज्ञानार्जन करें, हृदय को निर्मल करें और अपने सब कर्मों को प्रभु में अर्पण करनेवाले बनें।

ऋषिः—वसुश्रुतः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

तीव्र घृताहुति

सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन। अग्नये जातवेदसे॥२॥

उस प्रभु के लिए **तीव्रम्**=(सर्वदोषाणां निवारणे पटुतरम्) दोष-निवारण में समर्थ **घृतम्**=ज्ञान की दीप्ति को **जुहोतन**=(हु=आदान) अपने में ग्रहण करो, जो प्रभु १. **सुसमिद्धाय**=पूर्ण रूप से समिद्ध हैं—ज्ञान से दीप्त हैं। प्रभु का ज्ञान निरतिशय है। **'स एष पूर्वेषमापि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'**=वे प्रभु गुरुओं के भी गुरु हैं। काल से अवच्छिन्न न होने से—अनादि होने से—वे सृष्टि के आरम्भ में अग्नि आदि ऋषियों के हृदय में वेदज्ञान दिया करते हैं। २. **शोचिषे**=वे प्रभु दीप्तिमान् हैं—अत्यन्त तेजस्वी हैं, पूर्ण पवित्र हैं। ३. **अग्नये**=सबको आगे

ले-चलनेवाले हैं ४. **जातवेदसे**=(जाते जाते विद्यते) प्रत्येक पदार्थ में वर्त्तमान हैं, सर्वव्यापक हैं।

प्रभु को अपने हृदय में ग्रहण करनेवाला व्यक्ति भी (क) **सुसमिद्ध**=ज्ञानदीप्त बनता है। (ख) **शोचिः**=शुचितावाला होता है। (ग) **अग्निः**=निरन्तर आगे बढ़ता है, तथा (घ) **जातवेदस्**=अधिक-से-अधिक व्यक्तियों के जीवन में प्रवेश करने का प्रयत्न करता है। उनके सुख-दुःख में सुखी व दुःखी होता है। औरों के दुःखों को अपनाकर उसे दूर करने में ही शान्ति अनुभव करता है।

प्रभु में निवास करनेवाला यह प्रभु का उपासक सचमुच **'वसुः**=उत्तम निवासवाला है—इसीलिए भी यह वसु है कि यह औरों को बसाने का कारण बनता है (वासयति)। उत्तम ज्ञानवाला होने से 'श्रुत' है। इस प्रकार इसका नाम 'वसुश्रुत' हो गया है।

भावार्थ—मलों को तीव्रता से दूर करके हम पवित्र बनें—अपने में प्रभु की ज्योति को जगाएँ और सभी को प्रभु-पुत्र जानते हुए सभी के दुःखों को अपना दुःख जानें। उस दुःख को दूर करने में हमें शान्ति प्राप्त हो। यही वास्तविक 'यज्ञ' है। इस यज्ञ को ज्ञानपूर्वक करनेवाले हम प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'वसुश्रुत' बनें।

ऋषिः—भरद्वाजः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

प्रभु का वर्धन

तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्द्धयामसि। बृहच्छोचा यविष्ठ्य॥३॥

हे **अङ्गिरः**=हमारे अङ्ग-अङ्ग में रस का सञ्चार करनेवाले प्रभो! **तं त्वा**=उन आपको **समिद्भिः**=ज्ञानदीप्तियों से और **घृतेन**=मल के क्षरण से **वर्धयामसि**=हम निरन्तर बढ़ाते हैं। वस्तुतः जो वस्तु जितनी दूर होती है, वह उतनी छोटी दिखती है। हम उसके समीप पहुँचते जाते हैं तो वस्तु का स्वरूप बड़ा होता जाता है और यदि यह दूरी शून्य हो जाए तब तो वह वस्तु व्यापक-सी हो जाती है। उपासक की प्रभु से दूरी भी ज्यों-ज्यों कम होती जाती है, त्यों-त्यों प्रभु उसके लिए बड़े होते जाते हैं—दूरी के शून्य होने पर तो वे प्रभु उसके लिए सर्वव्यापक हो जाते हैं—वह सर्वत्र उस प्रभु का दर्शन करता है। इस प्रभु-दर्शन के लिए ही ज्ञानदीप्ति (समिध्) तथा मलों का क्षरण (घृत) साधन हैं। पृथिवीस्थ, अन्तरिक्षस्थ व द्युलोकस्थ पदार्थों का ज्ञान ही तीन समिधाएँ—ज्ञान-दीप्तियाँ हैं जो हमें प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ में प्रभु की महिमा का दर्शन कराती हैं। उस समय एक-एक पुष्प में से हमें प्रभु-सत्ता की गन्ध आने लगती है—एक-एक पत्ते में प्रभु की कृति-कुशलता दिखने लगती है।

मलों के हट जाने पर हमें प्रत्येक प्राणी के साथ एक बन्धुत्व का अनुभव होने लगता है। सब भेदभाव नष्ट हो जाता है—सबके अन्दर प्रभु का वास दिखता है। इन समदर्शियों को न शोक रहता है न मोह **'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'**। इस उपासक की यही कामना होती है कि हे प्रभो! **बृहत्**=खूब ही **शोच**=मुझमें चमकिए। मैं अपने मलों को दूर करके अधिकाधिक आपकी दीप्ति को देखनेवाला बनूँ। **यविष्ठ्य**=हे प्रभो! (यु मिश्रण-अमिश्रण) आप ही मुझे दुरितों से दूर तथा यज्ञ से सङ्गत करनेवालों में सर्वोत्तम हैं। आपकी कृपा से मैं सब बुराइयों से ऊपर उठकर सब 'वाजों'—शक्तियों को अपने में भरनेवाला प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'भरद्वाज' बनता हूँ।

भावार्थ—हम अपने ज्ञान व नैर्मल्य से प्रभु की महिमा को बढ़ानेवाले बनें, बुराइयों से दूर तथा अच्छाइयों के समीप होकर अपने में शक्तियों को भरनेवाले 'भरद्वाज' हों।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

ज्ञान का परिणाम—'पवित्रता व त्याग'

उप॑ त्वाग्ने ह॒विष्म॑तीर्घृ॒ताची॑र्यन्तु हर्यत। जु॒षस्व॑ स॒मिधो॒ मम॑॥४॥

हे **अग्ने**=मेरी उन्नति के साधक प्रभो! **हर्यत**=(हर्य गतिकान्त्योः) मेरी सब क्रियाओं के स्रोत व चाहने योग्य प्रभो! **मम**=मेरी **समिधः**=ज्ञानदीप्तियाँ **त्वा उपयन्तु**=आपके समीप प्राप्त हों। ज्ञान मुझे निरन्तर आपके समीप प्राप्त करानेवाला हो। 'मेरी ये ज्ञानदीप्तियाँ कैसी हैं? १. **हविष्मतीः**=ये उत्तम हविवाली हैं—त्यागपूर्वक अदनवाली हैं। ज्ञान का पहला परिणाम मेरे जीवन पर यह होता है कि मेरी अकेले खाने की वृत्ति प्रायः समाप्त हो जाती है—मैं औरों के साथ मिलकर खाता हूँ। मैं अपनी सम्पत्ति का पाँचों यज्ञों में विनियोग करके यज्ञशेष को खानेवाला बनता हूँ। यह यज्ञशेष ही तो अमृत है—अतः मेरा भोजन 'अमृतसेवन' हो जाता है। २. **घृताचीः**=(घृत अञ्च्) मल के क्षरण से युक्त है। ज्ञान का परिणाम मल का दूर करना है। ज्ञान 'पवित्र' है—**'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'**। एवं, ज्ञान के मेरे जीवन में दो परिणाम होते हैं—पवित्रता और त्याग।

हे प्रभो! मेरी इन ज्ञानदीप्तियों को **जुषस्व**=आप प्रीतिपूर्वक सेवन कीजिए—ये आपको प्रसन्न करनेवाली हों। जैसे पिता पुत्र के ऊँचे ज्ञान से प्रसन्न होता है—उसके प्रथम स्थान में उत्तीर्ण होने से प्रीति का अनुभव करता है, उसी प्रकार मेरा ज्ञान आपको प्रसन्न करे।

मेरा ज्ञान मेरे जीवन में पवित्रता व त्याग उत्पन्न करता है। पवित्र व यज्ञिय जीवनवाला बनकर मैं सब प्रजाओं के हित में प्रवृत्त होता हूँ और प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'प्रजापति' बनता हूँ।

भावार्थ—मुझे अनासक्त व पवित्र बनानेवाली मेरी ज्ञानदीप्तियाँ मुझे प्रभु के समीप पहुँचानेवाली हों—ये मुझे प्रभु का प्रिय बनाएँ। लोकहित में प्रवृत्त होकर मैं 'प्रजापति' बनूँ।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—अग्निवायुसूर्याः। **छन्दः**—दैवीबृहती [क], निचृद्बृहती [ख]। **स्वरः**—मध्यमः॥

अग्निहोत्र

[क]भूर्भु॒वः॒ स्व॒र् [ख]द्यौरि॑व भू॒म्ना पृ॑थि॒वीव॑ वरि॒म्णा।
तस्या॑स्ते पृथिवि देवयजनि पृ॒ष्ठे॒ऽग्निम॑न्ना॒दम॒न्नाद्या॑या॒द॑धे॥५॥

१. गत मन्त्र का ऋषि 'प्रजापति' लोकहित के उद्देश्य से 'प्राजापत्य यज्ञ' करने का निश्चय करता है। अग्निहोत्र के द्वारा वह अकेले खाने की वृत्ति से ऊपर उठता है। देवताओं से दिये गये अन्नों को देवों के लिए देकर ही वह खाता है, वायु आदि देवों की शुद्धि से समय पर वृष्टि के द्वारा अन्नोत्पादन का कारण बनता है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि इस यज्ञियवृत्ति के परिणामस्वरूप उसका जीवन विलासमय नहीं बनता और परिणामतः वह **'भूः'**=स्वस्थ बना रहता है। भू=होना=बने रहना=अस्वस्थ न हो जाना। स्वस्थ शरीर में उसका मस्तिष्क भी स्वस्थ रहता है और **भुवः**=वह ज्ञान प्राप्त करता है। (भुवोऽवकल्कने, अवकल्कणं चिन्तनम्)। स्वस्थ व ज्ञानी बनकर वह **स्वः**=(स्वयं राजते) स्वयं राजमान व जितेन्द्रिय बनता है। यह इन्द्रियों का दास नहीं होता। वस्तुतः यज्ञियवृत्ति

के मूल में ही इन्द्रियों की दासता समाप्त हो जाती है। यह व्यक्ति विलास से ऊपर उठकर—केवल अपने लिए न जीता हुआ सभी के लिए जीता है। यह **भूम्ना** =बहुत्व के दृष्टिकोण से **द्यौः इव**=द्युलोक के समान हो जाता है। जैसे द्युलोक अनन्त नक्षत्रों को अपने में समाये हुए है उसी प्रकार यह भी सारे प्राणियों को अपनी 'मैं' में समाविष्ट करने का प्रयत्न करता है। यह **वरिम्णा**=विशालता के दृष्टिकोण से **पृथिवी इव**=इस विस्तृत पृथिवी के समान होता है। **'वसुधैव कुटुम्बकम्'**=सभी वसुधा को यह अपना कुटुम्ब बना लेता है।

२. यह निश्चय करता है कि हे पृथिवी मातः=भूमे! **देवयजनि**=जो तू देवताओं के यज्ञ करने का स्थान है **तस्याः**=उस **ते**=तेरे **पृष्ठे**=पृष्ठ पर मैं **अग्निम्**=इस अग्नि को **आदधे**=अग्निकुण्ड में अवहित करता हूँ, जो अग्नि **अन्नादम्**=अन्न को खानेवाली है। इस अग्नि में उत्तमोत्तम हव्य अन्नों की आहुति देता हूँ। यह अग्नि उन्हें सूक्ष्मतम कणों में विभक्त करके सारे वायुमण्डल में फैला देता है। यह सूक्ष्मकण श्वासवायु के साथ कितने ही प्राणियों से अपने अन्दर ग्रहण किये जाते हैं। अग्निहोत्र हमें **अन्नाद्याय**=खानेयोग्य अन्न प्राप्त कराता है। इस 'अन्नाद्याय' खाद्य अन्न के लिए ही मैं अग्नि का आधान करता हूँ और इस आद्य अन्न की उत्पत्ति में कारण बनकर अपने 'प्रजापति' नाम को चरितार्थ करता हूँ।

भावार्थ—अग्निहोत्र के लाभ निम्न हैं—(क) स्वास्थ्य (भूः) (ख) ज्ञान (भुवः), (ग) जितेन्द्रियता (स्वः), (घ) विशालता (द्यौः इव, पृथिवी इव) (ङ) आद्य अन्न की प्राप्ति—इन लाभों का ध्यान करते हुए हमें अग्निहोत्र करना चाहिए।

ऋषिः—सर्पराज्ञी कद्रूः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

माता-पिता, सर्पराज्ञी कद्रूः

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन् मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः॥६॥

१. 'प्रजापति' ने गत मन्त्र में अपने जीवन को यज्ञमय बनाया। यज्ञादि उत्तम कर्मों में सदा लगे रहने से यह **'सर्प'**=गतिशील (सृप् गतौ) कहलाया। क्रियाशीलता से चमकने के कारण यह 'राज्ञी' (राज् दीप्तौ) कहलाता है। इस प्रकार यह क्रियाशील व देदीप्यमान जीवनवाला बनकर 'कं प्रति द्रवति' उस आनन्दस्वरूप प्रभु की ओर निरन्तर बढ़ रहा है। अतः 'कद्रूः' है। 'सर्पराज्ञी कद्रूः' यह स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग इसलिए है कि जीव मानो पत्नी है, जोकि अपने प्रभुरूप पति का वरण करने के लिए सन्नद्ध है।

२. **आयम्**=यह जीव **गौः**=गतिशील है (गच्छति), निरन्तर क्रिया में लगा हुआ है। **पृश्निः**=(संस्प्रष्टा भासां) ज्योतियों को यह स्पर्श करनेवाला है। इसकी क्रिया के साथ ज्ञान जुड़ा हुआ है, वस्तुतः इसकी प्रत्येक क्रिया ज्ञानपूर्वक ही होती है। **अक्रमीत्**=यह निरन्तर उन्नति-पथ पर पग रख रहा है, आगे और आगे बढ़ रहा है। **पुरः**=सबसे पहले यह **मातरम्**=वेदमाता को (स्तुता मया वरदा वेदमाता०) **असदत्**=प्राप्त होता है। इसका सर्वप्रथम कार्य वेदज्ञान को प्राप्त करना है। इसे यह सर्वप्रधान कर्त्तव्य समझता है। इसी से तो वह कण-कण में प्रभु का दर्शन करता है। **स्वः**=उस स्वयंप्रकाश **पितरम्**=पिता की ओर **प्रयन्**=जाने के हेतु से वह ऐसा करता है। वस्तुतः प्रभु का दर्शन तभी होता है जब मनुष्य इस वेदज्ञान से अपने 'ब्रह्मवर्चस्' को बढ़ाता है।

भावार्थ—हम वेदमाता को अपनाएँ, जिससे उस देदीप्यमान पिता—प्रभु का दर्शन कर सकें।

ऋषिः—सर्पराज्ञी कद्रूः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

ज्ञान का प्रकाश

अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती। व्यख्यन् महिषो दिवम्॥७॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार वेदमाता को अपनाने पर **अस्य**=इस 'वेदमातृभक्त' के **अन्तः**=अन्दर—अन्तःकरण में **रोचना**=ज्ञान की दीप्ति **चरति**=प्रसृत होती है, अर्थात् इसका अन्तःकरण ज्ञानज्योति से जगमगा उठता है। २. यह **रोचना**=ज्ञानदीप्ति विषयों के सात्त्विक रूप का दर्शन कराकर इसे विषयासक्ति से बचाती है। विषयासक्तियों से बचाव इसकी प्राणशक्ति की वृद्धि का कारण बनता है। **प्राणात्**=प्राणशक्ति के द्वारा यह रोचना इसके जीवन में से **अपानती**=सब दोषों को दूर करती है। इसका जीवन निर्मल हो उठता है। केवल शरीर ही नहीं, इसके मन व मस्तिष्क भी स्वस्थ हो जाते हैं। ३. सब मलों से दूर हुआ यह **महिषः**=(मह पूजायाम्) प्रभु का पुजारी **दिवम्**=उस हृदयस्थ देदीप्यमान ज्योति को **व्यख्यन्**=विशेषरूप से देखता है। मल के आवरण ने उस ज्योति को इससे छिपाया हुआ था। आवरण हटा और ज्योति का प्रकाश हुआ।

भावार्थ—हम वेदमाता को अपनाते हैं, तो अन्तःकरण प्रकाशित हो उठता है। प्राणशक्ति की वृद्धि से सब मल दूर हो जाते हैं और उपासक अन्तर्ज्योति—प्रभु को देखता हैं।

ऋषिः—सर्पराज्ञी कद्रूः। देवता—अग्निः। छन्दः—गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

निरन्तर 'जप'

त्रिꣳशद्धाम विराजति वाक् पतङ्गाय धीयते। प्रति वस्तोरह द्युभिः॥८॥

१. गत मन्त्र के अनुसार जब यह उपासक उस प्रभु का दर्शन करता है तब **त्रिंशत् धाम**=तीसों मुहूर्त **विराजति**=इसका अन्तःकरण प्रभु-ज्योति से चमकता है। इसका हृदय सदा प्रकाशमय रहता है। २. **वाक्** =इसकी वाणी **पतङ्गाय**=उस (पतति गच्छति प्राप्नोति) प्राप्त होनेवाले प्रभु के लिए **धीयते**=धारण की जाती है। यह निरन्तर उस प्रभु सूर्य-समप्रभ का ही जप करता है, उसके नाम का ही चिन्तन करता है। सदा प्रभु का स्मरण करने से इसका जीवन पवित्र बना रहता है। ३. **प्रतिवस्तोः**=प्रतिदिन इसका जप चलता ही है (वस्तोः=दिन), **अह**=और निश्चय से **द्युभिः**=(द्यु=दिन) अधिक प्रकाश व खुशी—प्रसन्नता के दिनों में भी यह प्रभु-नाम-स्मरण करता है। उत्सव के दिनों में यह प्रभु-स्मरण हमारी प्रसन्नता को उच्छृङ्खल नहीं होने देता। प्रसन्नता में भी मर्यादा बनी रहती है।

भावार्थ—तीसों मुहूर्त प्रभु का दर्शन चले, निरन्तर उसके नाम का स्मरण हो। प्रसन्नता के अवसरों पर हम विशेषतः प्रभु को न भूलें, इसी में जीवन की सार्थकता है।

ऋषिः—प्रजापतिः। देवता—अग्निसूर्यौ। छन्दः—पङ्क्तिः[क], याजुषीपङ्क्तिः[ख]। स्वरः—पञ्चमः॥

गति=शक्ति+ज्ञान

[क]अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा।
अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा।
[ख]ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा॥९॥

जो व्यक्ति गत मन्त्र की भावना के अनुसार सदा प्रभु का स्मरण करता है उसका जीवन निम्न सूत्रों को लेकर चलता है—१. **अग्निः ज्योतिः**=गति 'ज्ञान' है। वस्तुतः गति व क्रियाशीलता ज्ञान-प्राप्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। 'आलस्य' विद्यार्थी का प्रधान दोष है। **'सुखार्थिनः कुतो विद्या'**=आरामपसन्द को विद्या प्राप्त नहीं होती। 'Be diligent' यही तो विद्यार्थी को मूलभूत उपदेश कार्लाइल ने दिया है। यजुर्वेद का प्रारम्भ 'वायवः स्थ'='तुम क्रियाशील हो' इन शब्दों से होता है और समाप्ति भी 'कुर्वन्नेव'='करते हुए ही' इन शब्दों पर होती है। एवं, गति ही जीवन का सार है—यही ज्ञान-प्राप्ति का प्रमुख साधन है। 'गतेस्त्रयोऽर्थाः—ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च'=गति के तीन अर्थ हैं—प्रथम अर्थ ज्ञान ही है। २. **ज्योतिः अग्निः**=ज्ञान गति है, अर्थात् ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य खूब क्रियावान् हो जाता है। **'क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः'** ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ यह क्रियावान् होता है। ज्ञानी पुरुष आत्मशुद्धि के लिए निरन्तर कर्म करता है। एवं, 'गति ज्ञान है, ज्ञान गति है' यह **स्वाहा**=(सु+आह) कितना सुन्दर कथन है। ३. **अग्निः**=(अगि गतौ) यह गति **वर्चः**=शक्ति है। जिस अङ्ग में गति रहती है वह शक्तिशाली रहता है, गति गई—शक्ति गई। बायें हाथ से कम काम करते हैं, इसी कारण वह दायें हाथ की तुलना में निर्बल होता है। आलसी हुआ और मनुष्य 'अ+लस' हो जाता है—उसकी चमक चली जाती है (लस कान्तौ)। ४. **ज्योतिः वर्चः**=ज्ञान 'शक्ति' है। अंग्रेज़ी में 'knowledge is power', 'ज्ञान ही शक्ति है' यह कहावत है। संसार में ज्ञान का ही शासन है। अध्यात्मक्षेत्र में यही काम का विध्वंस करता है। **स्वाहा**=यह बात भी कितनी सुन्दर है!

५. सायंकाल सूर्य के अभाव में अग्नि को देखकर ये मन्त्र बोले जाते हैं तो प्रातः यही बात सूर्य के स्मरण से कही जाती है। **सूर्यो ज्योतिः**=यह सूर्य 'प्रकाश' है। सूर्य और अग्नि में कितना अन्तर है—'अग्नि' में 'अगि गतौ' धातु है तो सूर्य में 'सृ गतौ' धातु है। मौलिक भावना तो गति की ही है। गति ज्ञान है, और **ज्योतिः सूर्यः**=ज्ञान गति है तथा **सूर्यः वर्चः**=गति शक्ति है और **ज्योतिः वर्चः**=ज्ञान 'शक्ति' है। ये बातें **स्वाहा** =कितनी सुन्दरता से कही गई हैं! ६. इसी बात को एक बार फिर से इस प्रकार कहते हैं कि **ज्योतिः सूर्यः**=ज्ञान 'सूर्य' है, ज्ञान गति है और **सूर्यः ज्योतिः**=गति ज्ञान है। **स्वाहा**=यह बात सुन्दर है। हमें इस बात को अपनाने के लिए **स्वाहा**=स्वार्थ का त्याग करना होगा।

७. इस मन्त्र में ध्यान देने योग्य बात यह है कि गति (अग्नि व सूर्य) भौतिक क्षेत्र में यदि वर्चस् (शक्ति) को उत्पन्न करती है तो अध्यात्मक्षेत्र में यह ज्योति ज्ञान को जन्म देती है। एवं, गति के द्वारा शक्ति व ज्ञान की उत्पत्ति ही प्रस्तुत मन्त्र का मुख्य विषय है। इस गति के द्वारा शक्ति व ज्ञान को उत्पन्न करके लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त हुआ 'प्रजापति' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है।

८. यह भी ध्यान करना चाहिए कि सूर्य के साथ सम्बद्ध यहाँ तीन मन्त्र हैं और अग्नि के साथ दो, अतः तीसरे मन्त्र से आचार्य ने मौन रहकर आहुति देने के लिए लिखा है। तीसरा मन्त्र वेद में नहीं है।

भावार्थ—हम सायंकाल अग्नि से और प्रातः सूर्य से गति की प्रेरणा लें। इस गति से अपने में शक्ति व ज्ञान की वृद्धि करें।

सूचना—यहाँ अग्नि पहले है, सूर्य पीछे। रात्रि पहले है, दिन बाद में। प्रलय थी, सृष्टि हुई।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—अग्निः[क], सूर्यः[ख]। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

इन्द्रवती रात्रि व उषा

[क]सजूर्देवेन सवित्रा सजू रात्र्येन्द्रवत्या। जुषाणोऽअग्निर्वेतु स्वाहा।

[ख]सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या। जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा॥१०॥

गति के द्वारा शक्ति व ज्ञान का विकास करनेवाला यह प्रजापति अपनी जीवन-यात्रा में निम्न प्रकार से चलता है—१. **सवित्रा देवेन**=सबके प्रेरक दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु से **सजूः**=मित्रतावाला, अर्थात् इस जीवन-यात्रा में प्रभु उसके साथ होते हैं। यह सदा प्रभु का स्मरण करते हुए अपनी जीवन-क्रियाओं को करता है। २. **इन्द्रवत्या रात्र्या**=इन्द्रवाली रात्रि के **सजूः**=साथ, अर्थात् यह प्रतिदिन रात्रि के आरम्भ में प्रभु-स्मरण करते हुए ही सोता है। सारी रात उस प्रभु के साथ ही इसका सम्बन्ध बना रहता है। यदि हम विषयों का चिन्तन करते हुए सोएँगे तो रात में भी उन विषयों के सेवन में ही लगे रहेंगे और इस प्रकार रात्रि 'इन्द्रियों' वाली हो जाएगी। ३. एवं, दिन में सदा प्रभु का स्मरण करते हुए रात में भी प्रभु का स्वप्न लेते हुए हम **जुषाणः**=सबके साथ प्रीतिपूर्वक वर्त्तनेवाले बनें। प्रभु कहते हैं कि यह प्रीतिपूर्वक वर्त्तनेवाला **अग्निः**=प्रगतिशील व्यक्ति ही **वेतु**=(वी गतौ) मुझे प्राप्त हो। **स्वाहा**=इस प्रीतिपूर्वक बर्त्ताव के लिए वह 'स्व' का 'हा' त्याग करना सीखे। ४. **देवेन सवित्रा सजूः**=उस प्रेरक देव से मित्रतावाला—अर्थात् प्रभु को ही सच्चा मित्र जाननेवाला **इन्द्रवत्या उषसा सजूः**=इन्द्रवाले उषःकाल के साथ, अर्थात् उषःकाल में उठकर सर्वप्रथम प्रभु का ही ध्यान करनेवाला **जुषाणः**=सबके साथ प्रीतिपूर्वक वर्त्तता हुआ अथवा स्वधर्म का प्रीति से सेवन करता हुआ **सूर्यः**=यह निरन्तर क्रियाशील, सूर्य के समान प्रकाशवाला व्यक्ति **वेतु**=प्रभु को प्राप्त हो। इसके लिए वह **स्वाहा**=स्वार्थत्याग की भावना को अपने में उद्बुद्ध करे।

भावार्थ—प्रभु की प्राप्ति के लिए तीन बातें आवश्यक हैं—१. हमारी जीवन-यात्रा में वे सवितादेव हमारे साथी हों। २. हमारी रात्रि व उषाःकाल प्रभु-स्मरण में बीते और ३. हमारा सारा बर्त्ताव प्रीतिपूर्वक हो।

ऋषिः—गोतमो राहूगणः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

हाथों में 'अध्वर', वाणी में 'मन्त्र'

उपप्रयन्तोऽअध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये। आरेऽअस्मे च शृण्वते॥११॥

प्रभु-प्राप्ति के लिए गत मन्त्र में तीसरी बात कही थी **जुषाणः**=प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ। 'किन बातों का प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ?' यह विषय प्रस्तुत मन्त्र का है। १. **अध्वरम्**=(अ+ध्वर—कुटिलता व हिंसा) इस जीवन-यात्रा में कुटिलता व हिंसा से रहित यज्ञों के **उपप्रयन्तः**=समीप जाते हुए **अग्नये**=उस अग्रेणी प्रभु की प्राप्ति के लिए **मन्त्रं वोचेम**=मन्त्रों का उच्चारण करें। प्रभु-प्राप्ति के दो साधन हैं—(क) हमारे हाथ अध्वरों में व्याप्त हों और हमारी वाणी ज्ञान की बातों का उच्चारण करे। कर्मेन्द्रियाँ अहिंसात्मक व कुटिलताशून्य कर्मों में लगी हों और ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान की वाणियों का ग्रहण करने में व्याप्त हों। ऐसा होने पर ही हम उस प्रभु को प्राप्त होंगे जो 'अग्नि' हैं—हमारी सब उन्नतियों के साधक हैं। वे प्रभु **आरे**=दूर और **अस्मे**=(अस्माकं समीपे इतिशेषः=महीधर) समीप **शृण्वते**=हमारे वचन को सुनते हैं। हमारी प्रार्थना उस प्रभु से सुनी जाती है, जो प्रभु

हमारी सब उन्नतियों के साधक हैं।

प्रभु-प्राप्ति के लिए सदा मन्त्रों का पाठ करते हुए यह उत्तम ज्ञानवाला 'गोतम' बनता है और अध्वरों में लगा हुआ यह कुटिलता व हिंसा का त्याग करनेवाला (रह-त्यागे) त्यागियों में गिनने के योग्य 'राहूगण' होता है। यह 'गोतम राहूगण' ही प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हमारे हाथ अध्वरों (यज्ञों) में व्याप्त हों और हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ मन्त्रों में। इस प्रकार उत्तम कर्मों व ज्ञान के द्वारा हम प्रभु को प्राप्त करने के अधिकारी हों।

ऋषिः—विरूपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

शिखर पर

अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्याऽअयम्। अपाꣳरेताꣳसि जिन्वति॥१२॥

गत मन्त्र के 'अध्वर व मन्त्र हमें कैसा बनाएँगे?' इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत मन्त्र में देखिए—१. **अग्निः मूर्द्धा**=यह निरन्तर आगे बढ़नेवाला होता है, अतः उन्नत होते हुए सर्वोच्च स्थान में पहुँचता है। २. **ककुत् दिवः**=यह ज्ञान के शिखर पर पहुँचता है। प्रतिदिन मन्त्रों का उच्चारण व दर्शन करनेवाला व्यक्ति ज्ञानी तो बनेगा ही। ३. **अयम्**=यह **पृथिव्याः**=इस शरीर का **पतिः**=स्वामी होता है। यह शरीररूप रथ पूर्णरूप से इसके वश में होता है। इस शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों का ठीक विकास होने से इसका शरीर 'पृथिवी' इस अन्वर्थक नामवाला ही होता है (प्रथ विस्तारे)।

४. यह आगे बढ़ा (अग्नि), शिखर तक पहुँचा (मूर्द्धा), ज्ञानी बना (दिवः ककुत्), सुन्दर शरीरवाला बना (पतिः पृथिव्या अयम्)। इन सब बातों का रहस्य इसमें है कि **अपाम्**=जल-सम्बन्धी जो **रेतांसि**=रेतस् 'शक्तियाँ' हैं—वीर्यकण हैं, उनको यह **जिन्वति**=अपने अन्दर बढ़ाता (promote करता) है। वीर्यकणों का अपने अन्दर वर्धन करता है, अपने शरीर में ही उनकी ऊर्ध्वगति करता है। यह ऊर्ध्वगति ही इनकी वृद्धि है। इनकी रक्षा से 'अध्वरम्' की भावना बढ़ती है और मन्त्रों का तत्त्वार्थ दर्शन भी होता है।

५. इस प्रकार वीर्य की ऊर्ध्वगति से अत्यन्त तेजस्वी बना हुआ यह 'वि-रूप'=विशिष्ट रूपवाला होता है। सामान्य मनुष्यों में यह ऐसे चमकता है जैसे नक्षत्रों में चन्द्रमा।

भावार्थ—हम आगे बढ़ते हुए उन्नति के शिखर पर पहुँचने का निश्चय करें। ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान प्राप्त करें। शरीर को पूर्ण नीरोग रक्खें। इन सब बातों के लिए संयमी बन ऊर्ध्वरेतस् हों।

ऋषिः—भरद्वाजः। **देवता**—इन्द्राग्नी। **छन्दः**—स्वराट्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

पति-पत्नी के मौलिक गुण

उभा वामिन्द्राग्नीऽआहुवध्याऽउभा राधसः सह मादयध्यै।
उभा दातारावि॒षाꣳर॑यी॒णामुभा वाजस्य सातये हुवे वाम्॥१३॥

गत मन्त्र की भावनावाले व्यक्ति जब 'पति-पत्नी' बनते हैं तब उनके अन्दर जो बातें विशेषरूप से दिखती हैं, वे ये हैं—१. पति इन्द्रियों का अधिष्ठाता—जितेन्द्रिय होने से बल-सम्पन्न होकर 'इन्द्र' नामवाला होता है। घर की उन्नति का कारण होने से पत्नी को यहाँ

'अग्नि' कहा गया है। पति 'बल' का प्रतीक है तो पत्नी 'प्रकाश' की। **इन्द्राग्नी**=हे पति-पत्नी! **वाम् उभा**=आप दोनों **आहुवध्या**=प्रभु को पुकारनेवाले (भवतम्) होते हो। उत्तम जीवनवाले पति-पत्नी मिलकर प्रभु की उपासना करते हैं। यह प्रभुभक्ति ही इनके सारे जीवन-सौन्दर्य का कारण है। २. **उभा** =दोनों ही **राधसः**=सफलता व सम्पत्ति का **सह**=मिलकर **मादयध्यै**=आनन्द लेनेवाले (भवतम्) होते हो। घर में होनेवाली सफलताओं व सम्पत्तियों को इनमें से कोई एक अपनी महिमा की सूचक नहीं मानता। 'इनको प्राप्त करने में दोनों का भाग है', ऐसा वे समझते हैं। यह समझना ही उन्हें परस्पर प्रेमवाला बनाये रखता है और वे एक-दूसरे को छोटा नहीं समझते। ३. **उभा** =दोनों **इषाम्**=अन्नों के व **रयीणाम्**=धनों के **दातारौ**=देनेवाले होते हैं। इनके घर से कोई याचक कभी निराश नहीं लौटता। ४. इस प्रकार (क) प्रभु के पुजारी (ख) मिलकर धन-सम्पत्ति का आनन्द उठानेवाले (ग) अन्नों व धनों के देनेवाले ये पति-पत्नी **उभा**=दोनों **वाजस्य**=शक्ति की **सातये**=प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होते हैं। इनका जीवन विषय-वासनाओंवाला न होने से इनकी शक्ति स्थिर रहती है। विषय ही इन्द्रिय-शक्तियों को जीर्ण करते हैं। अपने अन्दर शक्ति को भरनेवाले ये सचमुच 'भरद्वाज' बनते हैं, प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि होते हैं।

५. इस प्रकार पति-पत्नी के चार मुख्य गुण हैं—'प्रभु-भजन', 'सम्पत्ति का सम्पादन', 'दान' तथा 'शक्तिसम्पन्न बने रहना'। इन गुणोंवाले पति-पत्नी का जीवन सचमुच सुन्दर होता है। मन्त्र का ऋषि कहता है कि **वाम् हुवे**=आप दोनों की मैं स्पर्धा करता हूँ (ह्वेञ्=स्पर्धायाम्)। मैं भी अपने जीवन को ऐसा बनाने का प्रयत्न करता हूँ, प्रभु से ऐसे ही जीवन के लिए प्रार्थना करता हूँ।

भावार्थ—पति-पत्नी के जीवन 'प्रभु-पूजन, धन-सम्पादन, दानशीलता व शक्ति' वाले हों। ऐसे ही जीवन अनुकरणीय व आकांक्षणीय हैं।

ऋषिः—देववातभरतौ। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

घर=प्रभु कीर्तन का केन्द्र

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातोऽअरोचथाः।
तं जानन्नग्नऽआरोहाथा नो वर्द्धया रयिम्॥१४॥

१. पिछले मन्त्र में वर्णित पति-पत्नी निम्न प्रकार से प्रभु-पूजन करते हैं—१. हे प्रभो! **अयम्**=यह **योनिः**=घर **ते**=तेरा ही है। इसमें आपका ही उपासन चलता है। **ऋत्वियः**= (ऋतौ ऋतौ प्राप्तः—काले काले भवति) इसमें आपका ही उपासन समय-समय पर होता है। यह वह घर है, **यतः**=जहाँ से **जातः** =प्रादुर्भूत हुए आप **अरोचथाः**=चमकते हो, अर्थात् इस घर में होनेवाला आपका स्तवन चारों ओर आपके यश को फैलानेवाला होता है। चारों ओर के वातावरण में भी आपके गुण-कीर्तन की वृत्ति परिपूर्ण हो उठती है। हमारा घर आपके गुण-कीर्तन का केन्द्र बनता है। २. **तम्**=उस हमारे घर को **जानन्**=जानते हुए, अर्थात् इस घर पर अपनी कृपादृष्टि रखते हुए **अग्ने**=हे उन्नतिसाधक प्रभो! इसे **आरोह**=(उन्नतिं गमय—द०) उन्नति को प्राप्त कराइए। आपकी कृपा से यह घर सदा उन्नत होता चले। इसमें सम्पत्ति की कमी न हो। इस घर में दान-प्रवाह सदा चलता रहे और इस घर के लोग क्षीणशक्ति न हो जाएँ। **अथ**=अब **नः रयिम्**=हमारी सम्पत्ति को **वर्धय**=बढ़ाइए।

३. इस घर में सदा देवताओं के श्रव=यश का कीर्तन होता है, अतः ये लोग

'देवश्रव' कहलाते हैं, देवताओं से ही अपने जीवन-मार्ग में प्रेरणा प्राप्त करने के कारण ये 'देववात' हैं। दानादि द्वारा औरों का भरण करनेवाले ये 'भरतौ' हैं।

भावार्थ—हमारे घर में प्रभु-पूजन इस रूप में चले कि यह घर ही प्रभु का लगे। हम प्रभु के कृपापात्र हों, जिससे यह घर उन्नत हो तथा इसकी सम्पत्ति बढ़े।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिक्त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

प्रजा का धाता ही प्रभु का धाता बनता है

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठोऽअध्वरेष्वीड्यः।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे॥१५॥

१. **अयम्**=यह प्रभु **प्रथमः**=सर्वश्रेष्ठ है—या अधिक-से-अधिक विस्तारवाला है (प्रथ विस्तारे)। **इह**=इस हृदयान्तरिक्ष में **धातृभिः**=धारण-पोषण करनेवाले लोगों से **धायि**=स्थापित किया जाता है। वस्तुतः प्रभु का धारण वही करते हैं जो अपने ही पालन में फँस जानेवाले असुर न बनकर औरों का भी धारण करनेवाले 'धाता' बनते हैं। सर्वभूतहित में लगे हुए व्यक्ति ही प्रभु के सच्चे उपासक हैं। २. वे प्रभु **होता**=सब पदार्थों के देनेवाले हैं (हु=दान)। **यजिष्ठः**=वे प्रभु अधिक-से-अधिक सङ्गतीकरणवाले हैं, हमारा वास्तविक सम्बन्ध प्रभु से ही है—ये ही पिता हैं, माता हैं, बन्धु हैं। **अध्वरेषु ईड्यः**=ये प्रभु ही कुटिलता व हिंसारहित कर्मों में उपासना के योग्य हैं। प्रभु की उपासना अध्वरों द्वारा ही होती है। निश्छल परार्थसाधक कर्मों के होने पर प्रभु-उपासन स्वतः ही चलता है। ३. ये प्रभु वे हैं **यम्**=जिसको **अप्नवानः**=उत्तम कर्मोंवाले (अप्न इति कर्मनाम—नि० २।१), **(अप्नं करोति इति णिजन्तात् वनिप्)**। **भृगवः**=ज्ञानीलोग (भ्रस्ज पाके), ज्ञान-अग्नि से अपना परिपाक करनेवाले तपस्वी लोग **विरुरुचुः**=(विदीपयन्ति—द०) अपने जीवन को ज्ञान से दीप्त करते हैं। प्रभु का प्रकाश उन्हीं में होता है, जिनके हाथों में अध्वर व अप्न हैं और जिनकी वाणी में मन्त्र हैं। हाथों में अध्वरोंवाले ही 'अप्नवान्' हैं, वाणी में मन्त्रोंवाले ही 'भृगु' हैं। ४. ये प्रभु **वनेषु**=उपासकों में (वन संभक्तौ) अथवा अपने धन का यज्ञों द्वारा औरों में विभाग करनेवालों में **चित्रम्**=(चित्+र) ज्ञान देनेवाले हैं, और ५. **विशेविशे**=प्रत्येक प्रजा में **विभ्वम्**=(व्यापनशीलम्) व्याप्त हो रहे हैं। ६. इस प्रकार प्रभु का उपासन करते हुए ये अप्नवान् और भृगु सुन्दर=उत्तम गुणों को धारण करते हैं। इन सुन्दर (वाम) गुणों (देव) को धारण करने से ये 'वामदेव' नामवाले होते हैं।

भावार्थ—वामदेव प्रभु का धारण करने के लिए 'धाता बनता है, होता बनता है, अधिक-से-अधिक प्राणियों से मेलवाला होता है, उत्तम कर्मोंवाला व ज्ञानाग्नि से अपना परिपाक करनेवाला होता है, यह अपने धनों का बाँटनेवाला बनता है और प्रभु का भजन करता है।

ऋषिः—अवत्सारः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

अमर वेदवाणी का दोहन

अस्य प्रत्नामनु द्युतꣳशुक्रं दुदुह्रेऽअह्रयः। पयः सहस्रसामृषिम्॥१६॥

पिछले मन्त्र में प्रभु के धारण का उल्लेख था। उस प्रभु का धारण करनेवाले व्यक्ति प्रभु के धारण के द्वारा उस प्रभु की ज्ञान-ज्योति को भी अपने में धारण करते हैं। प्रस्तुत

मन्त्र में कहते हैं कि **अस्य**=इस हृदय-मन्दिर में स्थापित किये गये प्रभु की **प्रत्नाम्**=सनातन **द्युतम्**=ज्योति के **अनु**=अनुसार **अह्रयः**=(अह व्याप्तौ+क्तिन्, ये सर्वा विद्या व्याप्नुवन्ति—द०) अपने में सब विद्याओं का व्यापन करनेवाले ज्ञानी लोग **दुदुह्रे**=अपने में ज्ञान का दोहन करते हैं। किस ज्ञान का? जो ज्ञान १. **शुक्रम्**=(शुच्) मानव जीवन को पवित्र व उज्ज्वल बनानेवाला है **'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'** २. **पयः**=जो हमारा आप्यायन व वर्धन करनेवाला है। इस ज्ञान को प्राप्त करके उसके अनुसार चलते हुए हम अपनी सब शक्तियों का वर्धन करनेवाले बनते हैं। ३. **सहस्रसाम्**=(सहस्र+सन्+संभक्ति आप्ति) यह ज्ञान हमें शतशः शक्तियों का प्राप्त करानेवाला है। वेदज्ञान हमें विलासमय जीवन से ऊपर उठाकर शक्तिसम्पन्न बनाता है। ४. **ऋषिम्**=(ऋष गतौ) और अन्ततः यह ज्ञान हमें प्रभु की ओर ले-जाता है—हमें प्रभु को प्राप्त करने के योग्य बनाता है।

उल्लिखित मन्त्रार्थ में निम्न बातें स्पष्ट हैं—१. यह वेदज्ञान सनातन है। प्रभु अनादि हैं, अतः उनका ज्ञान भी अनादि है। २. अपने में सब विद्याओं का व्यापन करनेवाले इसका दोहन करते हैं। दूसरे शब्दों में यह वेदज्ञान सब सत्य विद्याओं का मूल है। इनमें सब सत्य विद्याओं का बीज निहित है।

मन्त्रार्थ से यह बात भी स्पष्ट है कि ज्ञान के चार परिणाम हैं—१. पवित्रता, २. सब अङ्गों का आप्यायन, ३. शतशः शक्तियों का लाभ तथा ४. प्रभु-प्राप्ति।

इस ज्ञान को प्राप्त वही व्यक्ति करता है जो शरीर में अन्न के सारभूत सारे सोमकणों को सुरक्षित रखता है। सार को सुरक्षित रखने से ही यह 'अवत्सार' कहलाता है।

भावार्थ—हम वेदवाणी का दोहन करके अपने जीवनों को 'उज्ज्वल, आप्यायित, शक्तिसम्पन्न व प्रभु-प्राप्ति का साधन' बनाएँ।

ऋषिः—अवत्सारः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—त्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

अवत्सार की प्रार्थना

तनूपाऽअग्नेऽसि तन्वं मे पाह्यायुर्दाऽअग्नेऽस्यायुर्मे देहि वर्चोदाऽअग्नेऽसि वर्चो मे देहि। अग्ने यन्मे तन्वाऽऊनं तन्मऽआपृण॥१७॥

'अवत्सार' प्रभु से प्रार्थना करता है—१. हे **अग्ने**=हमारी उन्नति के साधक प्रभो! **तनूपा असि**=आप हमारे शरीरों के रक्षक हो, अतः **मे**=मेरे **तन्वम्**=शरीर को **पाहि**=सुरक्षित कीजिए। आपके दिये गये वेदज्ञान से मैं अपने शरीर को रोगों से बचा सकूँगा। २. **आयुर्दा असि**=आप दीर्घजीवन देनेवाले हैं। **अग्ने**=हे अग्रेणी प्रभो! **मे**=मुझे **आयुः**=दीर्घजीवन **देहि**=दीजिए। आपका यह वेदज्ञान मुझे उस मार्ग पर ले-चले जिससे मैं दीर्घकाल तक जीनेवाला बनूँ। ३. हे **अग्ने**=अग्रगति के साधक प्रभो! **वर्चोदा असि**=आप वर्चस् के देनेवाले हैं, **मे**=मुझे **वर्चः**=वर्चस् **देहि**=दीजिए। इस नीरोग दीर्घजीवन में मैं ब्रह्मवर्चस् को प्राप्त करके आपके समीप पहुँचनेवाला बनूँ। ४. हे **अग्ने**=मुझे आगे और आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **यत्**=जो भी **मे**=मेरे **तन्वा ऊनम्**=शरीर की न्यूनता है **मे**=मेरी **तत्**=उस न्यूनता को **आपृण**=दूर कर दीजिए (समन्तात् प्रपूरण—द०)।

भावार्थ—हम अपनी वीर्यशक्ति के द्वारा शरीर की सब न्यूनताओं को दूर करनेवाले हों। सब कमियों को दूर करके प्रभु को प्राप्त करने में क्षम हों।

ऋषिः—अवत्सारः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद्ब्राह्मीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

चित्रावसु

इन्धानास्त्वा शतꣳहिमा द्युमन्तꣳसमिधीमहि। वयस्वन्तो वयस्कृतꣳसहस्वन्तः सहस्कृतम्। अग्ने सपत्नदम्भनमदब्धासोऽअदाभ्यम्। चित्रावसो स्वस्ति ते पारमशीय॥१८॥

१. हे प्रभो! **द्युमन्तम्**=ज्योतिर्मय आपको—ज्ञानस्वरूप 'विशुद्धाचित्' आपको **शतं हिमाः**=सौ वर्षपर्यन्त **इन्धानाः**=अपने हृदय-मन्दिर में दीप्त करते हुए **समिधीमहि**=इस जीवन में हम खूब दीप्त हों। २. **वयस्वन्तः**=उत्तम आयुष्यवाले हम **वयस्कृते**=उत्तम आयुष्य के कारणभूत आपको अपने में दीप्त करें। हम अपने जीवन को उज्ज्वल बनाएँ, परन्तु हमें यह सदा स्पष्ट हो कि हमारे जीवन की उज्ज्वलता का कारण आप ही हैं। ३. **सहस्वन्तः**=उत्तम सहस् (बल+सहनशक्ति)-वाले होते हुए **सहस्कृतम्**=इस सहस् को उत्पन्न करनेवाले आपको हम अपने में समिद्ध करें। 'सहोऽसि' इन शब्दों के अनुसार हम यह न भूल जाएँ कि सारे सहस् के उद्गमस्थान आप ही हैं। ४. **हे अग्ने**=हमारी अग्रगति के साधक प्रभो! **सपत्नदम्भनम्**=हमारे 'काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मत्सर' आदि सब सपत्नों—शत्रुओं के नष्ट करनेवाले आपको हम अपने में समिद्ध करते हैं। परिणामतः **'अदब्धासः'**=दबनेवाले न होते हुए **अदाभ्यम्**=दबाये न जा सकनेवाले आपको हम अपने में समिद्ध करते हैं। वस्तुतः आपके कारण ही तो हम इन शत्रुओं से हिंसित नहीं होते। ५. **चित्रावसो** =(चित्+र+वस्) उत्तम ज्ञान देकर हमें उत्तमता से बसानेवाले हे प्रभो! **स्वस्ति**=आपके दिये इस वेदज्ञान से हमारा जीवन उत्तम हो। वस्तुतः देवता जिसकी रक्षा करना चाहते हैं उसे उत्तम ज्ञान प्राप्त करा देते हैं। नाश का उपाय बुद्धि को छीन लेना है और जीवन का उपाय बुद्धि का प्रापण।

६. हे प्रभो! मैं **ते**=आपके दिये इस वेदज्ञान के सहारे **पारम्**=इस भवसागर के पार को **अशीय** =प्राप्त करूँ। यह ज्ञान ही मुझे सब वासनाओं को जीतने में समर्थ बनाएगा।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हमें उत्तम जीवन, सहनशक्ति, शत्रुओं के नाशन की शक्ति तथा वह ज्ञान प्राप्त होता है जिससे हम कुशलता से इस भवसागर को तैर पाते हैं।

ऋषिः—अवत्सारः। देवता—अग्निः। छन्दः—जगती। स्वरः—निषादः॥

प्रिय-धाम

सं त्वमग्ने सूर्यस्य वर्चसागथाः समृषीणाꣳस्तुतेन।
सं प्रियेण धाम्ना समहमायुषा सं वर्चसा सं प्रजया सꣳरायस्पोषेण गमिषीय॥१९॥

१. हे **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **त्वम्**=आप **सूर्यस्य वर्चसा**=सूर्य के तेज के साथ **सम् आगथाः**=हमें सम्यक् प्राप्त होओ, अर्थात् आपकी कृपा से निरन्तर क्रियाशील रहता हुआ मैं सूर्य के समान चमकूँ। २. **ऋषीणाम्** =तत्त्वद्रष्टा ज्ञानियों के **स्तुतेन**=प्रशस्त ज्ञान के साथ आप हमें प्राप्त होओ (समागथाः)। ३. **प्रियेण धाम्ना सम्**=आप हमें प्रिय तेज के साथ प्राप्त होओ। हम तेजस्वी हों, परन्तु हमारा तेज औरों की प्रीति का कारण बने। हमारा तेज नाशक न होकर निर्माण-विनियुक्त हो। ४. हे प्रभो! आपकी कृपा से **अहम्**=मैं **आयुषा**=उत्तम आयुष्य से **सम्**=सङ्गत होऊँ। मेरा जीवन उत्तम हो। ५. **वर्चसा सम्**=मैं वर्चस् से सङ्गत होऊँ। अपने जीवन में मैं निर्बल न होऊँ। ६. **प्रजया सम्**=परिणामतः मेरा उत्तम व वर्चस्वी जीवन मेरी प्रजा को भी उत्तम बनाये। मैं उत्तम सन्तानों से संयुक्त होऊँ। ७. हे प्रभो! इन

सन्तानों के जीवनों को भी उत्तम बनाने के लिए **रायस्पोषेण**=धन के साथ शरीर की पुष्टि से **संग्मिषीय**=सङ्गत होऊँ। मैं धनी होऊँ, जिससे मेरी यह संसार-यात्रा ठीक से चले, परन्तु इस धन को प्राप्त करके मैं कुबेर=कुत्सित शरीरवाला व नलकुबेर न बन जाऊँ। मेरा शरीर पुष्ट हो।

भावार्थ—मैं वर्चस्वी बनूँ, ज्ञानी बनूँ। मेरा तेज लोकहितकारी हो। उत्तम जीवनवाला बनकर मैं उत्तम सन्तान का निर्माण करूँ। धनी होऊँ पर पुष्ट, निर्बल नहीं।

ऋषिः—याज्ञवल्क्यः। **देवता**—आपः। **छन्दः**—भुरिग्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

रायस्पोष

अन्ध स्थान्धो वो भक्षीय मह स्थ महो वो भक्षीयोर्ज स्थोर्जो वो भक्षीय रायस्पोष स्थ रायस्पोषं वो भक्षीय॥२०॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति 'मैं रायस्पोष से सङ्गत होऊँ' शब्दों के साथ हुई थी। प्रस्तुत मन्त्र में इस रायस्पोष की साधनभूत गौवों का उल्लेख करते हैं। धन का संग्रह करनेवाले वैश्य लोग 'कृषि, गोरक्षा व वाणिज्य' से धनार्जन करते हैं। इनके इन तीनों कार्यों का केन्द्र 'गोरक्षा' है। प्राचीनकाल में गोधन ही वास्तविक धन था। Pecuniary शब्द में प्रारम्भिक 'Pecu' यह शब्दांश अब तक पशुधन के धनत्व को पुष्ट कर रहा है। २. इस गौ के लिए कहते हैं कि तुम **अन्धः स्थ**=अन्न हो (क्षीराज्यादिरूपस्यान्नस्य जनकत्वात् अन्नत्वोपचारः—म०), क्षीर, आज्य (घृत) आदि अन्न की जनक हो। मैं **वः**=आपके **अन्धः**=क्षीराज्यादिरूप इस अन्न का **भक्षीय**=सेवन करूँ। ३. **महःस्थ**='मह' शब्दवाच्य दस शक्तिजनक पदार्थों को पैदा करने से तुम 'मह' हो। वे दस वीर्यजनक पदार्थ निम्न हैं—(क) प्रतिधक्=तत्काल दूहा=ताज़ा दूध, (ख) श्रृतम्=गरम किया हुआ दूध, (ग) शरः=दुग्धमण्ड (घ) दधि, (ङ) मस्तु=दधिरस (च) आतञ्च=दधिपिण्ड (छ) नवनीत=मक्खन (ज) घृतम्, (झ) आमिक्षा=स्फुटित दुग्ध (ञ्) वाजिनम्=आमिक्षा जल। मैं **वः**=आपके **महः**=वीर्यजनक इन दस पदार्थों का **भक्षीय**=सेवन करूँ। ४. **ऊर्जः स्थ**=बलहेतु क्षीर की जनक होने से तुम बलरूप हो। मैं **वः**=तुम्हारे **ऊर्जम्**=बलजनक दुग्धादि का **भक्षीय**=सेवन करूँ।

५. **रायस्पोष स्थ**=तुम रायस्पोष हो। वैश्य लोग आपके ही क्षीर-घृतादि के विक्रय से धन का पोषण करते हैं। मैं **वः**=आपके इस **रायस्पोषम्**=रायस्पोष का **भक्षीय**=सेवन करनेवाला बनूँ। ६. इस प्रकार आपके दूध आदि के प्रयोग से जहाँ वीर्यवान्, बलवान् व धनवान् बनूँगा, वहाँ उत्तम मनोवृत्तिवाला बनकर यज्ञादि उत्तम कार्यों में व्याप्त होनेवाला प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'याज्ञवल्क्य' बनूँगा। यज्ञ के संवरणवाला (वल्क-संवरण)। याज्ञवल्क्य वह है जिसके दिन का प्रारम्भ भी यज्ञ से होता है और समाप्ति भी यज्ञ से। एवं, इसका जीवन यज्ञ का ही सम्पुट बना रहता है।

भावार्थ—गौवें 'अन्ध, मह, ऊर्ज व रायस्पोष' हैं। अन्नदात्री, वीर्यदात्री, बल व प्राणदात्री तथा धन का पोषण करनेवाली हैं।

ऋषिः—याज्ञवल्क्यः। **देवता**—विश्वेदेवाः। **छन्दः**—उष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

याज्ञवल्क्य की 'गो-प्रार्थना'

रेवती रमध्वमस्मिन्योनावस्मिन् गोष्ठेऽस्मिँल्लोकेऽस्मिन् क्षये।
इहैव स्त माप गात॥२१॥

१. ऋषि याज्ञवल्क्य गौवों को सम्बोधित करते हुए प्रार्थना करते हैं **रेवतीः**=(रयिर्विद्यते यासाम्) धन का हेतु होने से हे धनवती गौवो! **अस्मिन् योनौ**=अपने इस (गोयूथसम्बन्धी प्रजननी) उत्पत्तिस्थान में ही **रमध्वम्**=तुम रमण करो। यहाँ स्पष्ट है कि गौवें इस घर में ही उत्पन्न होती है, यहाँ ही रहती हैं। एवं, उनका विक्रय यथासम्भव नहीं होता। कृषिमय जीवन में यह बात पूर्णतया सम्भव है। २. **अस्मिन् गोष्ठे**=इस गोष्ठ में (गोष्ठशब्देन गृहाद् बहिर्विश्राम्मेण सञ्चारप्रदेशः) गोसञ्चार प्रदेश में रमण करो। ३. **अस्मिन् लोके**=इस यजमान के दृष्टि-विषय में (लोकृ दर्शने) रमण करो, अर्थात् गृहपति की दृष्टि तुमपर सदा बनी रहे—उसकी आँख से तुम ओझल न हो जाओ। ४. **अस्मिन् क्षये**=(क्षि निवासे) इस यजमान के निवासस्थानभूत घर में तुम आनन्द से रहो। **इह एव स्त**=यहाँ ही होओ। **मा अपगात**=यहाँ से दूर मत जाओ। इस घर की 'नीरोगता, पवित्रता व वृद्धि की भास्वरता' सब-कुछ तुमपर ही तो आश्रित है, अतः तुम यहीं निवास करो।

भावार्थ—गौ ही घर का वास्तविक धन है। उसके न रहने पर घर 'शरीर, मन व बुद्धि' सभी दृष्टिकोणों से निर्धन बन जाता है। शरीर रोगी हो जाता है, मन मलिन हो जाता है और बुद्धि मन्द।

ऋषिः—वैश्वामित्रो मधुच्छन्दाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिगासुरीगायत्री[क], गायत्री[ख]। **स्वरः**—षड्जः॥

वेदवाणी व गौपत्य

[क]**सꣳहितासि विश्वरूप्यूर्जा माविꣳश गौपत्येन।**

[ख]**उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्तऽएमसि॥२२॥**

पिछले मन्त्र में गोष्ठों का उल्लेख है। 'गो' शब्द का अर्थ वेदवाणी भी है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में वेदवाणी का उल्लेख करते हैं। गोदुग्ध पान से निर्मल मन व तीव्र बुद्धि बनकर यह वेदवाणी के अध्ययन के योग्य बनता है और कहता है कि—१. **संहिता असि**=तू सृष्टि के आरम्भ में ही प्रभु द्वारा 'अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा' आदि ऋषियों के हृदयों में **सम्**=सम्यक्तया **हिता**=स्थापित हुई है। यहाँ 'सम्' की भावना 'इकट्ठी' लेकर पाश्चात्य विद्वानों ने यह धारणा कर ली कि ये विभिन्न ऋषियों की वाणियों का संग्रह (collection) होने से 'संहिता' नामवाली हुई हैं। 'सम्' का अर्थ 'सम्यक्तया' लेने पर यह भ्रम दूर हो जाता है। २. यह वेदवाणी **विश्वरूपी**=सब पदार्थों का निरूपण करनेवाली है। इसी से यह सब सत्य विद्याओं का आदिमूल कहलाई है। ३. इस वेदवाणी के ओजस्वी सन्देश को सुनकर मनुष्य उत्साह से परिपूर्ण हो जाता है। यह पाठक को बल व प्राणशक्ति से व्याप्त कर देती है, अतः कहते हैं कि **ऊर्जा**=बल और प्राणशक्ति के साथ तू **मा आविश**=मुझमें प्रविष्ट हो। ४. **गौपत्येन**=(गावः इन्द्रियाणि) मैं वेदवाणी का अध्ययन करके इन इन्द्रियों का स्वामी बनूँ। यह वेदवाणी 'गौपत्य' से मुझमें प्रविष्ट हो, अर्थात् ज्ञानप्रवण बनाकर यह मुझे जितेन्द्रिय बनानेवाली हो।

५. इन्द्रियों का निरोध करके हम वेदवाणी के स्थापक प्रभु का स्मरण करते हैं और कहते हैं—**दोषावस्तः**=सब दोषों का छादन=अपवारण (वस्+आच्छादन=अपवारण) करनेवाले **अग्ने**=मेरी उन्नति के साधक हे प्रभो! आपकी इस वेदवाणी के प्रवेश से बल व जितेन्द्रियता का साधन करनेवाले हम **दिवेदिवे**=प्रतिदिन **धिया**=ज्ञानपूर्वक किये जानेवाले कर्मों से **नमः**=पूजन को **भरन्तः**=प्राप्त कराते हुए **त्वा उप एमसि**=आपके समीप प्राप्त होते हैं।

यहाँ मन्त्रार्थ में निम्न बातें ध्यान देने योग्य हैं—१. वेदवाणी पवित्र हृदयों में प्रभु द्वारा स्थापित होती है। २. यह व्यक्ति में प्राणशक्ति का सञ्चार करती है और उसे जितेन्द्रियता के मार्ग पर ले-चलती है। ३. जितेन्द्रिय पुरुष उस प्रभु का सदा स्मरण करता है, जिसके स्मरण से हमारा जीवन निर्दोष बना रहता है। ४. प्रभु का सच्चा उपासन ज्ञानपूर्वक किये गये कर्मों से होता है, बशर्ते कि हम उन कर्मों का गर्व न करके नम्र बने रहें।

इन्हीं बातों की इच्छा करनेवाला व्यक्ति 'मधुच्छन्दाः'=मधुर इच्छाओंवाला है। यह चाहता है कि 'मैं पवित्र हृदय बनूँ, मेरे हृदय में प्रभु-वाणी स्थापित हो, यह वेदवाणी मुझमें प्राणशक्ति का सञ्चार करे, मैं जितेन्द्रिय बनूँ, मेरा जीवन निर्दोष बने, ज्ञानपूर्वक कर्मों से मैं प्रभु का उपासन करूँ, और सदा नम्र बना रहूँ'। यह मधुच्छन्दा 'वैश्वामित्र' है—सबके साथ स्नेह करनेवाला है।

भावार्थ—हम वेदवाणी के द्वारा उत्साहमय व जितेन्द्रिय बनकर प्रभु के उपासक बनें।

ऋषिः—वैश्वामित्रो मधुच्छन्दाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

प्रभु का उपासन

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्। वर्द्धमानꣳस्वे दमे॥२३॥

हम उस प्रभु के समीप प्राप्त होते हैं जो १. **राजन्तम्**=(राजृ दीप्तौ) संसार के प्रत्येक 'विभूतिवाले, श्रीवाले या बलवाले' पदार्थ में दीप्त हो रहे हैं। वस्तुतः उस पदार्थ की 'विभूति-श्री-दीप्ति' प्रभु के कारण ही तो श्रीमत् है। उपनिषद् स्पष्ट कह रही है कि **'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'**। २. वे प्रभु **अध्वराणां गोपाम्**=सब यज्ञों के रक्षक हैं। हिंसा व कुटिलता से रहित कर्मों के वे पालक हैं। ३. **ऋतस्य**=सत्य के **दीदिविम्**=प्रकाशक (दीपयिता) हैं, वेदवाणी के द्वारा सब सत्य विद्याओं के प्रकाशक हैं। ४. वे प्रभु **स्वे दमे**=अपने स्वरूप में **वर्धमानम्**=सदा वर्धमान हैं। वे क्षीणता व जीर्णता से रहित हैं। उनका स्वरूप 'प्रकाशमय' है—वे ज्ञानस्वरूप हैं। यह ज्ञान सदा पूर्ण रहता है—इसमें किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आती।

४. इस प्रकार उपासना करनेवाले मधुच्छन्दा की कामना यह है कि— (क)मैं भी प्रभु-ज्योति से देदीप्यमान होऊँ (ख) अपने जीवन में यज्ञिय कर्मों की रक्षा करनेवाला बनूँ (ग) मुझमें सत्य का प्रकाश हो (घ) मेरा ज्ञान सदा बढ़ता रहे।

भावार्थ—हम प्रभु की उपासना करते हुए प्रभु-जैसे ही बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—वैश्वामित्रो मधुच्छन्दाः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराड्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

पुत्र के लिए पिता के समान

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये॥२४॥

'मधुच्छन्दा' प्रार्थना करता है कि **अग्ने**=हे प्रभो! हमारी उन्नति के साधक **सः**=आप **सूनवे पिता इव**=जैसे पुत्र के लिए पिता सुगमता से प्राप्त होने योग्य होता है उसी प्रकार **नः**=हमारे लिए **सूपायनः भव**=सरलता से प्राप्य होओ। सुमार्ग पर चलनेवाला सदाचारी, सुशील, विज्ञ सन्तान जैसे पिता को प्रिय होता है, उसी प्रकार मैं मधुच्छन्दा भी हे प्रभो! आपका प्रिय होऊँ। और आप **नः**=हमें **स्वस्तये**=उत्तम जीवन के लिए **सचस्व**=समवेत कीजिए। उत्तम जीवन से हमारा सम्बन्ध अविच्छिन्न हो। वस्तुतः प्रभु-कृपा का ही परिणाम

होता है कि कदम-कदम पर प्रलोभनों से भरे इस संसार में हम मार्ग से विचलित नहीं होते। पिता की आँख से ओझल न होनेवाला सन्तान कुसङ्ग से बचा रहता है और बुराइयों में नहीं फँसता। इसी प्रकार प्रभु का उपासक **स्वस्ति**=उत्तम जीवन-सम्पन्न बना रहता है। 'पिता' का शब्दार्थ ही रक्षक है, पिता पुत्र को बुराइयों से बचाता है।

भावार्थ—हम सदा प्रभु के समीप रहें, जिससे मलिन इच्छाएँ हममें उत्पन्न ही न हों।

ऋषिः—सुबन्धुः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिग्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

सुबन्धु-स्तवन

अग्ने त्वं नोऽअन्तमऽउत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः।
वसुरग्निर्वसुश्रवाऽअच्छा नक्षि द्युमत्तमꣳरयिं दाः॥२५॥

१. पिछले मन्त्र में प्रभु को पिता के रूप में स्मरण किया था। उसी को अब उत्तम बन्धु के रूप में स्मरण करते हैं। प्रभु को इस रूप में स्मरण करने के कारण ही मन्त्र का ऋषि 'सु-बन्धु' है=उत्तम बन्धुवाला। हम जैसों को बन्धु बनाते हैं वैसे ही बन जाते हैं, अतः सुबन्धु तो प्रभु के बन्धुत्व में ही रहने का प्रयत्न करता है। २. यह प्रभु का स्तवन इस रूप में करता है—**अग्ने**=हे प्रकाशमय प्रभो! अथवा मेरी सम्पूर्ण उन्नतियों के साधक प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमारे **अन्तमः**=अन्तिकतम मित्र हैं Intimate friend हैं। अथवा अनिति जीवयति अतिशयेन=आप ही मेरे प्राण हैं—जीवन हैं। २. **उत**=और, अन्तिकतम व प्राणप्रद बन्धु के रूप में आप मेरे **त्राता**=रक्षक हैं। आपकी कृपा से ही मैं काम-क्रोधादि शत्रुओं के आक्रमण से सुरक्षित रहता हूँ। ३. **शिवः**=कामादि शत्रुओं से सुरक्षित करके आप मेरा कल्याण करते हैं। ४. आप **वरूथ्यः भव**=मेरे लिए उत्तम आवरण होओ, (वृ=संवरण)। वस्तुतः आप ही मेरे अमृतरूप उपस्तरण व अपिधान हैं। अथवा **वरूथ**=Wealth धन, आप ही हमारे उत्तम धन हैं, हमें उत्तम धन देनेवाले हैं। ५. **वसुः**=इस उत्तम धन के द्वारा आप हमें उत्तम निवास देनेवाले हैं 'वासयतीति वसुः'। ६. **अग्निः**=उत्तम निवास देकर हमें आगे ले-चलनेवाले हैं। ७. **वसुश्रवाः**=आप निवासक ज्ञान देनेवाले हैं। ८. **अच्छा नक्षि**=हे प्रभो! आप हमें आभिमुख्येन प्राप्त होओ (अच्छ=ओर, नक्ष् गतौ), और ९. **द्युमत्तमम्**=अधिक-से-अधिक ज्योतिवाला **रयिम्**=धन **दाः**=दीजिए। मुझे धन प्राप्त हो, परन्तु धन पाकर मैं प्रमत्त न हो जाऊँ। धन मेरी ज्योति के वर्धन का कारण बने नकि ह्रास का।

भावार्थ—हम प्रभु को अपना बन्धु बनाकर वासनाओं को तैर जाएँ और प्रकाशमय धन को प्राप्त होनेवाले हों।

ऋषिः—सुबन्धुः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराड्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

पापकथा से बचाइए

तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः।
स नो बोधि श्रुधी हवमुरुष्या णोऽअघायतः समस्मात्॥२६॥

१. सुबन्धु प्रार्थना करता है—हे **शोचिष्ठ**=गत मन्त्र में वर्णित 'द्युमत्तमं रयिम्' को देकर हमारे जीवनों को शुचि बनानेवाले! **दीदिवः**=देदीप्यमान प्रभो! **तं त्वा**=उस आपसे **नूनम्**=निश्चय से **सुम्नाय**=सुख के लिए **ईमहे**=याचना करते हैं। साथ ही **सखिभ्यः**=ऐसे

साथियों के लिए जोकि मिलकर ज्ञान की ही चर्चा करनेवाले हों, उन सखाओं के लिए याचना करते हैं। ऐसे साथियों के सम्पर्क से ही हम इस संसार-यात्रा में आगे बढ़ेंगे। २. **सः**=आप **नः**=हमें **बोधि**=बोध से युक्त कीजिए। ज्ञानप्रवण मित्रों के सम्पर्क में रहकर हमारा ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता चले। हे प्रभो! **हवम्**=हमारी इस पुकार को आप **श्रुधी**=अवश्य सुनिए और **नः**=हमें **अघायतः**=अघ-बुराई व पाप को चाहनेवाले **समस्मात्**=सब लोगों से **उरुष्य** =बचाइए। पाप की चर्चा करनेवालों के सम्पर्क में हम न आएँ। यह चर्चा अकल्याण का ही कारण बनती है।

भावार्थ—हम ज्ञान-रुचिवाले मित्रों के सम्पर्क में आकर अधिक और अधिक बोधवाले हों। अशुभ चर्चाओं में रुचिवाले मित्रों से हम सदा बचे रहें।

ऋषिः—श्रुतबन्धुः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराड्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

वेदवाणी का 'काम-धरण'

इड॒ऽएह्यदि॑त॒ऽएहि॒ काम्या॒ऽएत॑ । मयि॑ वः काम॒धर॑णं भूयात् ॥२७॥

गत मन्त्र का सुबन्धु ज्ञानी मित्रों के सम्पर्क में रहकर खूब ज्ञानी बनता है। वह वेदवाणी को अपनाता है। इस वेदवाणी के अपनाने से यह 'श्रुतबन्धु'=ज्ञानरूप मित्रवाला हो जाता है। यह वेदवाणी से ही कहता है—१. **इडे**=हे वेदवाणी! **एहि**=तू मुझे प्राप्त हो। तू इडा=A Law (इ+डा=ला Law) मेरे जीवन का नियम है। वस्तुतः प्रभु ने सृष्टि के आरम्भ में इसे एक कानून के रूप में ही हमें दिया है। २. **अदिते**=हे अखण्डित रहनेवाली वेदवाणी! तू **एहि**=मुझे प्राप्त हो। इस वेदवाणी से हमारे स्वास्थ्य आदि अखण्डित रहते हैं। यह वेदवाणी स्वयं भी उस अनादि-अनन्त प्रभु का ज्ञान होने से 'अखण्डित-अविनश्वर' है। ३. **काम्याः**=इस वेदवाणी की सब 'ऋचाएँ-यजु व साम' कामना के योग्य हैं—चाहने योग्य हैं। हे कमनीय वेदवाणियो! **एत**=हमें प्राप्त होओ। **वः**=आपका **मयि**=मुझमें **कामधरणम्**= इच्छापूर्वक धारण **भूयात्**=हो। **'काम्यो हि वेदाधिगमः'**, इन मनु के शब्दों के अनुसार मैं वेदज्ञान की कामनावाला होऊँ। इसमें निहित ज्ञान को मैं अपना बन्धु बनाऊँ और 'श्रुतबन्धु' नामवाला होऊँ।

भावार्थ—वेदवाणी जीवन का नियम है। यह अखण्डन व स्वास्थ्य को प्राप्त करानेवाली है, चाहने योग्य है। मैं इच्छा से इसका धारण करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—विप्रबन्धुः। **देवता**—बृहस्पतिः। **छन्दः**—विराड्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

'सोम-स्वरण-कक्षीवान्-उशिक्'

सो॒मान॒ꣳस्वर॑णं कृणुहि ब्रह्मणस्पते । क॒क्षीव॑न्तं यऽऔ॒शिज॒ः ॥२८॥

१. पिछले मन्त्र का 'श्रुतबन्धु' वेदज्ञान की प्राप्ति के लिए ज्ञानी मित्रों के सम्पर्क में आकर प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'विप्रबन्धु' बनता है। 'वि+प्र' वह है जो वेदवाणी को विशेष रूप से अपने में पूरण करता है। यह विप्र 'ब्रह्मणस्पति' है—ज्ञान का—वेद का पति है। वस्तुतः ऐसे ब्रह्मणस्पति आचार्यों के मिलने पर ही हमारा जीवन सुन्दर बनता है। सबसे बड़े 'ब्रह्मणस्पति' तो प्रभु ही हैं—गुरुओं के भी वे गुरु हैं। **ब्रह्मणस्पते**=वेदज्ञान के पति हे आचार्य! आप मुझे **सोमानं स्वरणं कक्षीवन्तं कृणुहि**=सोम, स्वरण व कक्षीवान् बनाइए। २. मैं आपके दिये वेदज्ञान के परिणामरूप सोम=सौम्य स्वभाववाला बनूँ। **ब्रह्मणा अर्वाङ्**

विपश्यति'=मनुष्य वेदज्ञान से नीचे देखनेवाला अर्थात् विनीत बनता है। **'विद्या ददाति विनयम्**'=विद्या विनय देती है। ३. मैं स्वरण=(सु+ऋ) उत्तम गतिवाला बनूँ। वेदज्ञान को प्राप्त करके जहाँ मैं सौम्य बनूँ वहाँ सदा उस वेद के नियमों के अनुसार चलनेवाला बनकर सदा उत्तम गतिवाला होऊँ। ४. मैं इस जीवन में कक्षीवान्– दृढ़निश्चयी बनकर चलूँ। कक्ष्य=कमर को कसकर मैं ज्ञान प्राप्ति में जुट जाऊँ। ५. मुझे आप ऐसा बनाइए **यः**=जो **औशिजः**=(उशिक्=मेधावी) अत्यन्त मेधावी है। निरन्तर मेधा की ओर चलता हुआ मैं 'मेधातिथि' बनूँ।

भावार्थ–हे ब्रह्मणस्पते! आपकी कृपा से ज्ञान प्राप्त करके मैं 'सौम्य, सुकर्मा, दृढ़निश्चयी व मेधावी बनूँ।

ऋषिः–मेधातिथिः। **देवता**–बृहस्पतिः। **छन्दः**–गायत्री। **स्वरः**–षड्जः॥

पुष्टि-वर्धन

यो रेवान् योऽअमीवहा वसुवित्पुष्टिवर्द्धनः। स नः सिषक्तु यस्तुरः ॥२९॥

१. **नः**=हमें **सः**=वह **सिषक्तु**=प्राप्त हो **यः**=जो **रेवान्**=ज्ञानरूप धनवाला है, **यः**=जो **अमीवहा**=रोगों को नष्ट करनेवाला है, **वसुवित्**=निवास के लिए आवश्यक सब वस्तुओं को प्राप्त करानेवाला है। **पुष्टिवर्धनः**=वस्तुओं को प्राप्त कराके हमारी पुष्टि को बढ़ानेवाला है और **यः**=जो **तुरः**=शीघ्रता से कार्यों को करनेवाला–निरालस्य है अथवा काम-क्रोधादि का संहार करनेवाला है। २. इस मन्त्र में गत मन्त्र के ब्रह्मणस्पति=वेदज्ञानी आचार्य की विशेषताओं का उल्लेख है। (क) वह ज्ञान का धनी होना चाहिए। कम ज्ञानवाला अध्यापक कभी विद्यार्थी के आदर का पात्र नहीं बन पाता। (ख) वह रोगों को नष्ट करनेवाला हो, नीरोग हो। बीमार आचार्य भी विद्यार्थी को प्रभावित नहीं कर पाता। (ग) सब वसुओं को स्वयं प्राप्त करनेवाला ही विद्यार्थी को इन वसुओं को प्राप्त करानेवाला होता है। (घ) आचार्य विद्यार्थी की पुष्टि का वर्धन करनेवाला हो। (ङ) और अन्त में वह क्रियाशील व कामादि शत्रुओं का संहारक हो। ३. ऐसे आचार्य को प्राप्त करके विद्यार्थी निरन्तर मेधा की ओर चलनेवाला प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'मेधातिथि' बनता है। इसकी बुद्धि निरन्तर बढ़ती चलती है।

भावार्थ–आचार्यों में ये विशेष गुण होने चाहिएँ–वह १. ज्ञानधनी हो, २. नीरोग हो, ३. निवास के लिए सब आवश्यक पदार्थों को प्राप्त करानेवाला, ४. पुष्टिवर्धन तथा ५. शीघ्रकारी व कामादि का संहारक हो।

ऋषिः–सत्यधृतिर्वारुणिः। **देवता**–ब्रह्मणस्पतिः। **छन्दः**–निचृद्गायत्री। **स्वरः**–षड्जः॥

सत्यधृति वारुणि 'अदान व हिंसा से ऊपर'

मा नः शꣳसोऽअररुषो धूर्तिः प्रणङ् मर्त्यस्य। रक्षा णो ब्रह्मणस्पते ॥३०॥

१. गत मन्त्र का मेधातिथि आचार्य से निरन्तर ज्ञान प्राप्त करके अपने धर्म में स्थिर होता है। यह धर्म में स्थिरता से ठहरना ही इसे 'सत्यधृति' बना देता है, इसका जीवन उत्तम व निर्दोष होने से यह 'वारुणि' कहलाता है। अपने 'मनः, प्राणेन्द्रिय क्रियाओं' को सात्त्विक धैर्य से धारण करता है। २. यह ब्रह्मणस्पति=वेदज्ञान के अधिपति प्रभु से प्रार्थना करता है कि–**ब्रह्मणस्पते**=हे ज्ञान के पति आचार्य! अथवा परमात्मन्! **नः**=हमें **अररुषः**=न देने की वृत्तिवाले कृपण पुरुष की **शंसः**=शंसन या बातें **मा**=मत **प्रणङ्**=नष्ट करनेवाली हों। अथवा

इसकी बातें हमें (नशेर्व्याप्त्यर्थस्य एतद् रूपम्–उव्वट) व्याप्त करनेवाली न हों। हमारे मनों पर इनकी बातों का प्रभाव न हो जाए। इनकी बातों का स्वरूप यही तो होता है कि 'व्यक्ति को तो इसलिए नहीं देना कि उसमें पर-पिण्ड जीवन की वृत्ति उत्पन्न हो जाती है, महन्तों का जीवन कितना विलासमय हो जाता है। संस्थाओं में भी रुपये को किस निर्दयता से व्यर्थ व्यय किया जाता है–वहाँ लोग काम कम करते है, रुपये अधिक लेते हैं, रुपयों का ग़बन होता रहता है। सरकार के कार्यों में तो अन्धेर खाता है ही, वहाँ तो करोड़ों का भी कुछ पता नहीं लगता, अतः देने का लाभ कुछ नहीं।' प्रभु-कृपा से हमें ये बातें 'अररिवान्' (अदाता+कृपण) न बना दें। ३. और हे आचार्य (परमात्मन्)! ऐसी कृपा कीजिए कि **मर्त्यस्य**=मरने-मारने के स्वभाववाले, अथवा किसी सांसारिक वस्तु के पीछे मरनेवाले मनुष्य की **धूर्तिः**=हिंसा **नः**=हमें **मा**=मत **प्रणङ्**=नष्ट करे या व्याप्त हो। हम इन लोगों से की जानेवाली हिंसाओं का शिकार न हों और इस प्रकार की हिंसाओं के करने की हमारी वृत्ति न बन जाए। ४. हे ब्रह्मणस्पते=ज्ञान के पते! इस प्रकार अदान व हिंसा की वृत्ति से बचाकर **नः**=हमें **रक्ष**=इस भवसागर में ही गोते खाते रहने से बचाइए।

भावार्थ–ज्ञानी आचार्यों से ज्ञान प्राप्त करके हम अपनी मनोवृत्ति को ऐसा बना लें कि हममें 'अदान व हिंसा' की वृत्ति न जाग सके।

ऋषिः–सत्यधृतिर्वारुणिः। **देवता**–आदित्यः। **छन्दः**–विराड्गायत्री। **स्वरः**–षड्जः॥

महि-द्युक्ष-दुराधर्ष

महि॑ त्रीणामवो॑ऽस्तु द्यु॒क्षं मि॒त्रस्यार्य॒म्णः। दु॒रा॒धर्षं॒ वरु॑णस्य ॥३१॥

१. सत्यधृति वारुणि ने गत मन्त्र में 'अदान व हिंसा' से ऊपर उठने का निश्चय किया तो प्रस्तुत मन्त्र में वह 'मित्रता, जितेन्द्रियता व अद्वेष' की भावना को धारण करने का निश्चय करता है। वह कहता है कि **त्रीणाम्**=तीन का **मित्रस्य अर्यम्णः वरुणस्य**=मित्र, अर्यमा व वरुण का **अवः**=रक्षण **अस्तु**=हमें प्राप्त हो। २. 'मित्र, अर्यमा और वरुण' ये तीन देवता क्रमशः (क) (ञिमिदा स्नेहने, मीतेः त्रायते) सबके साथ स्नेह करना, पाप से अपने को बचाना, (ख) (अरीन् गच्छति) काम-क्रोधादि शत्रुओं को जीतकर जितेन्द्रिय बनना, तथा (ग) (वारयति) द्वेषादि का निवारण करना' इन भावनाओं के प्रतीक हैं। 'सत्यधृति' निश्चय करता है कि वह सबके साथ स्नेह करेगा, जितेन्द्रिय बनेगा और द्वेष से अपने को अवश्य बचाएगा। ३. मन्त्रक्रम में यह भी स्पष्ट है कि इन देवों का रक्षण क्रमशः **'महि, द्युक्षं, दुराधर्षम्'** है। मित्र का रक्षण 'महि' महनीय है, आदर के योग्य है। यह मनुष्य को महान् बनाता है। सबसे स्नेह से वर्तनेवाला व्यक्ति सबका महनीय होता है। ४. अर्यमा का रक्षण 'द्युक्षम्' है। जितेन्द्रिय बनने से हम **द्यु**=ज्योति में **क्ष**=निवास करनेवाले होते हैं। जितेन्द्रियता से हमारी बुद्धि व ज्ञान का विकास होता है। अजितेन्द्रिय पुरुष का ज्ञान उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जैसेकि कच्चे घड़े से पानी चू जाता है। ५. वरुण का रक्षण 'दुराधर्ष' है। द्वेष का निवारण करनेवाला व्यक्ति औरों के लिए अधर्षणीय हो जाता है–कोई भी इसका पराभव नहीं कर पाता।

भावार्थ–हम सबके साथ स्नेह से वर्त्तते हुए महनीय बनें, जितेन्द्रिय बनकर ज्योतिर्मय मस्तिष्कवाले हों और द्वेष से ऊपर उठकर अपराजेय बन जाएँ।

ऋषिः—सत्यधृतिर्वारुणिः। **देवता**—आदित्यः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

अघशंस के सङ्ग से बचें

नहि तेषाममा चन नाध्वसु वारणेषु। ईशे रिपुरघशंसः॥३२॥

१. **तेषाम्**=गत मन्त्र के 'मित्र, अर्यमा व वरुण' के उपासकों को **अघशंसः**=पाप का शंसन करनेवाला **रिपुः**=शत्रु **अमा चन**=घर में भी **नहि ईशे**=ईश नहीं बनता। **अध्वसु**=मार्गों में भी न (ईशे)=वह अघशंस इनका ईश नहीं बनता **अरणेषु वा**=(अ+रण=शब्द) अथवा निःशब्द एकान्त स्थानों में भी वह इनका ईश नहीं बनता।

२. अघशंस व्यक्ति वह है जो पाप का अच्छे रूप में शंसन करता है। पाप को उजले रूप में दिखाकर हमें उन पापों में फँसानेवाला होता है, इसी से वह हमारा 'रिपु' है—शत्रु है। भयंकर शत्रु वही है जो ऊपर से मीठा है—हृदय में हमारे लिए अशुभ भावना रखता है। न घरों में, न मार्गों में और ना ही एकान्त स्थानों में ये हमारे ईश बन जाएँ। हम इनकी बातों में आकर पाप की ओर प्रवृत्त न हो जाएँ। जिन व्यक्तियों के ध्येय व उपास्य 'मित्र, अर्यमा व वरुण' होते हैं, वे सदा शुभमार्ग पर ही चलते हैं। ये अघशंसों की बातों में नहीं आते।

३. अघशंस लोग घर में भोजनादि पर आमन्त्रित करके बड़े आपातरम्य मधुर ढङ्ग से साथी बनकर हमें फुसला लेते हैं। यात्रा में साथी बनकर छोटी-छोटी सहायताओं से हमें अपना बनाकर बहका लेते हैं और कभी-कभी अकेले में वे अनुकूल अवसर पाकर हमें मार्गभ्रष्ट कर देते हैं।

भावार्थ—सत्यधृतिवाला पुरुष अघशंस पुरुषों के सङ्ग से बचता है। वस्तुतः तभी तो अपने को पाप के मार्ग से बचा पाता है।

ऋषिः—सत्यधृतिर्वारुणिः। **देवता**—आदित्यः। **छन्दः**—विराड्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

अजस्र ज्योति का दान

ते हि पुत्रासोऽअदितेः प्र जीवसे मर्त्याय। ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्रम्॥३३॥

१. ३० से ३२ तक के मन्त्रों में 'सत्यधृति वारुणि' का चित्रण है। **ते**=ये 'सत्यधृति वारुणि' **हि**=निश्चय से **अदितेः पुत्रासः**=अदिति के पुत्र होते हैं, अर्थात् आदित्य ब्रह्मचारी बनते हैं। 'अदितिः—अखण्डन (दो अवखण्डने) न इनका शरीर खण्डित व हिंसित होता है, न ही इनका मन द्वेषादि की भावनाओं से खण्डित हुआ करता है। इनका ज्ञानयज्ञ तो कभी खण्डित होता ही नहीं। इसी से इन्हें 'अदिति के पुत्र' कहा गया है। २. ये **मर्त्याय**=विषयों के पीछे मरनेवाले सामान्य मनुष्यों के लिए **अजस्रम्**=निरन्तर **ज्योतिः**=ज्ञान के प्रकाश को **यच्छन्ति**=देते हैं। ये आदित्य निरन्तर ज्ञान की ज्योति देकर हमें उत्कर्ष की ओर ले-जाते हैं और **प्रजीवसे**=हमारे प्रकृष्ट जीवन का कारण बनते हैं। अघशंसों का अघशंसन हमारे जीवन के पतन का कारण बनता है और आदित्य ब्रह्मचारियों का ज्योतिर्दान जीवन के उत्थान का कारण होता है।

भावार्थ—हमारे जीवन में हमारा सङ्ग अघशंसों के साथ न हो। अदिति-पुत्रों का सङ्ग प्राप्त करके हम उच्च जीवनवाले बनें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। **देवता**—इन्द्रः। **छन्दः**—पथ्याबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

मधुच्छन्दा वैश्वामित्र

कदा चन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे।
उपोपेन्नु मघवन् भूयऽइन्नु ते दानं देवस्य पृच्यते॥३४॥

१. गत मन्त्र के अदिति-पुत्रों से निरन्तर ज्ञानज्योति प्राप्त करके हम प्रभु के अधिकाधिक समीप पहुँचते हैं। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि ज्ञानज्योति से पवित्र होकर मधुर इच्छाओंवाला बनता है, अतः 'मधुच्छन्दाः' कहलाता है और यह सबके साथ स्नेह करके 'वैश्वामित्र' नामवाला होता है। २. यह प्रभु से कहता है कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! आप **कदाचन**=कभी भी **स्तरीः**=हिंसा करनेवाले **न असि**=नहीं हैं। जो भी व्यक्ति प्रभु का मित्र बनता है प्रभु उसकी हिंसा नहीं होने देते। हम प्रभु से दूर होते हैं और प्राकृतिक शक्तियों से हिंसित होने लगते हैं। प्रभु से दूर हुए और विषयों का शिकार हुए। ३. हे इन्द्र! आप **दाशुषे**=दाश्वान् के लिए, आपके प्रति अपना समर्पण करनेवाले के लिए **सश्चसि** =प्राप्त होते हो, आप उसे अपना ऐश्वर्य प्राप्त कराते हो। हे **मघवन्**=पापशून्य ऐश्वर्यवाले प्रभो! **देवस्य**=दिव्य गुणयुक्त **ते**=आपका **दानम्**=दान **भूय इत् नु**=अब निश्चय से उतना ही अधिक **पृच्यते**=मेरे साथ संपृक्त होता है जितना-जितना **उप उप इत् नु**=मैं आपके समीप प्राप्त होता हूँ। हम जितना-जितना प्रभु के समीप पहुँचते हैं उतना-उतना प्रभु के दान के पात्र बनते हैं। प्रभु से दूर और प्रभु के दान से दूर। ५. 'मैं प्रभु के समीप पहुँचूँगा। प्रभु के प्रति अपना अर्पण करके हिंसा से बचूँगा। प्रभु के दान का पात्र बनूँगा' इन उत्तम इच्छाओं का करनेवाला यह जीव सचमुच 'मधुच्छन्दाः' हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु हमें हिंसा से बचाते हैं, उत्तम दान प्राप्त कराते हैं यदि हम उनके समीप पहुँचते हैं।

ऋषिः—विश्वामित्रः। **देवता**—सवितः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

भर्ग का धारण

तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥३५॥

१. **तत् सवितुः**=उस विस्तृत, सर्वव्यापक, उत्पादक प्रभु के **देवस्य**=सब दिव्य गुणों के अधिष्ठाता प्रभु के **वरेण्यम्**=वरणीय **भर्गः**=तेज का **धीमहि**=हम ध्यान करते हैं व उसे धारण करते हैं। 'स चासौ सविता च' इस विग्रह से वह परमात्मा जहाँ सर्वव्यापक है वहाँ सर्वोत्पादक है। दिव्य गुणों के तो वे पुञ्ज हैं ही। इन प्रभु के तेज को ही 'विश्वामित्र' ऋषि अपना लक्ष्य बनाते हैं। इसी तेज को धारण करने का प्रयत्न करते हैं। 'प्रभु के तेज को धारण करने' से अधिक उच्च मानव-जीवन का लक्ष्य नहीं हो सकता। २. वह निश्चय करता है कि मैं उस प्रभु के तेज को धारण करूँगा **यः**=जो **नः धियः**=हमारी बुद्धियों को **प्रचोदयात्**=उत्कृष्ट प्रेरणा देता है। ऊँचा लक्ष्य बनाने पर यह निरन्तर उन्नति-पथ पर आरुढ़ होता चलता है। यही मानव-जीवन की सफलता है।

भावार्थ—हम प्रभु के तेज को धारण करनेवाले बनें। इस लक्ष्य के कारण हमें सदा सद्बुद्धि प्राप्त हो।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—अग्निः। छन्दः—निचृद्गायत्री। स्वरः—षड्जः॥

ज्ञानरूप रथ

परि॑ ते दू॒डभो॒ रथो॒ऽस्माँ२॥ऽअ॑श्नोतु वि॒श्वतः॑। येन॒ रक्ष॑सि दा॒शुषः॑॥३६॥

१. गत मन्त्र में प्रभु के तेज को धारण करनेवाला व्यक्ति प्राणिमात्र का मित्र बनता है तो 'विश्वामित्र' कहलाता है। इस स्नेह की भावना से सब दिव्य गुणों का विकास होता है और यह 'वामदेव' बन जाता है। यह वामदेव प्रभु से प्रार्थना करता है कि **ते**=आपका **दूडभः**=(दुःखेन दम्भितुं हिंसितुं योग्यः) न नष्ट करने योग्य **रथः**=विज्ञानरूप रथ (रथो रंहतेर्गतिकर्मणः, स्थिरतेर्वा, रममाणोऽस्मिँस्तिष्ठति, रपतेर्वा रसतेर्वा—नि० ९।११) **अस्मान्**=हमें **विश्वतः**=सब ओर से **परि अश्नोतु**=व्याप्त करे। 'ज्ञान का परिणाम गति व क्रिया होती है'—**'क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः'**, ज्ञानी पुरुष स्थिर मनोवृत्ति का बनता है, ज्ञान में मनुष्य अन्ततः अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करता है, यह ऋषियों के हृदयों में प्रभु से व्यक्त रूप में उच्चारण किया जाता है। यह जीवन को रसमय बनाता है। इन कारणों से ज्ञान यहाँ 'रथ' शब्द से कहा गया है। २. हे प्रभो! आपका यह ज्ञान हमें सर्वतः व्याप्त करे। **येन**=जिस ज्ञान से **दाशुषः**=दाश्वान् की—आत्मसमर्पण करनेवाले की **रक्षसि**=आप रक्षा करते हो। वस्तुतः देव ज्ञान देकर की मनुष्य की रक्षा करते हैं। जो व्यक्ति प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता है—प्रभु उसे यह ज्ञानरूप रथ देते हैं जिससे वह इस दुर्गम भवकान्तार को पार कर जाता है।

भावार्थ—ज्ञान प्रभु का न हिंसित होनेवाला रथ है। यह हमें प्राप्त हो। इस ज्ञान से ही हम अपनी रक्षा कर पाएँगे।

ऋषिः—वामदेवः। देवता—प्रजापतिः। छन्दः—ब्राह्म्युष्णिक्। स्वरः—ऋषभः॥

भूः, भुवः, स्वः

भूर्भु॒वः स्व॒ः सुप्र॒जाः प्र॒जाभि॑ः स्याꣳसु॒वीरो॑ वी॒रैः सु॒पोष॒ः पोषै॑ः।
नर्य॑ प्र॒जां मे॑ पाहि॒ शꣳस्य॑ प॒शून् मे॑ पा॒ह्यर्थर्य॑ पि॒तुं मे॑ पाहि॥३७॥

१. गत मन्त्र के 'दूडभ रथ'=न हिंसित होनेवाले ज्ञान के द्वारा हम **भूः**=सदा स्वस्थ बने रहें। **भुवः** =ज्ञान को प्राप्त करनेवाले हों (भुव अवकल्कने=चिन्तने)। **स्वः**=हम स्वयं राजमान व जितेन्द्रिय बनें, इन्द्रियों के दास न हो जाएँ। २. यह ठीक है कि यह शरीर अवश्य जाना है परन्तु प्रजाओं के द्वारा हम अमर बने रह सकते हैं (**प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम**—अथर्व०), अतः वामदेव प्रार्थना करता है कि **प्रजाभिः**=उत्तम सन्तानों से हम **अग्ने**=हे आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **सुप्रजाः**=उत्तम प्रजाओंवाले **स्याम्** =हों। इन प्रजाओं द्वारा हम सदा बने रहें। यह प्रजातन्तु कभी बीच में विच्छिन्न न हो जाए। ३. ज्ञान के द्वारा **वीरैः**=वीरता की भावनाओं से—(वि+ईर) काम-क्रोधादि शत्रुओं को कम्पित करने की भावना से मैं **सुवीरः**=उत्तम वीर बनूँ। एकमात्र ज्ञान ही कामादि शत्रुओं को कम्पित करता है। ज्ञानाग्नि ही मनुष्य के मलों को भस्म करके उन्हें पवित्र बनाती है। इन कामादि शत्रुओं का विजेता ही सच्चा वीर है। ४. अब जितेन्द्रिय बनकर मैं **पोषैः**=पोषणों के द्वारा **सुपोषः**=उत्तम पोषणवाला होऊँ। पोषण के लिए 'चरक' का सूत्र है 'हिताशी स्यात्, मिताशी स्यात्, कालभोजी जितेन्द्रियः' हितकर भोजन खाए, मापकर खाए (मात्रा में), समय पर और सबसे बड़ी बात यह कि जितेन्द्रिय हो। जितेन्द्रियता के बिना पोषण सम्भव ही नहीं। एवं,

'भूः भुवः स्वः' का क्रमशः 'प्रजाभिः सुप्रजाः, वीरैः सुवीरः, पोषैः सुपोषः' के साथ सम्बन्ध है। प्रजाएँ हमें सदा बनाये रखती हैं, ज्ञान हमें वीर बनाता है और जितेन्द्रियता से हमारा पोषण होता है। ५. हे **नर्य**=नरहित करनेवाले प्रभो! **मे**=मेरी **प्रजाम्**= प्रजा को **पाहि**=सुरक्षित कीजिए। वस्तुतः जो व्यक्ति नरहित के कार्यों में रुचि लेते हैं, उनके सन्तान प्रभु-कृपा से अच्छे बनते हैं। ६. **शंस्य**=हे शंसन करनेवालों में उत्तम प्रभो! **मे**=मेरे **पशून्**= इन काम-क्रोधादि पशुओं को **पाहि**=सुरक्षित रखिए। इन्हें खुला न छोड़ दिया जाए। प्रभु अपने भक्तों में ज्ञान का शंसन करते हैं और उस ज्ञान से ये कामादि पशु सुनियन्त्रित रहते हैं। ७. **अथर्य**=(न थर्वति) विषयों से आन्दोलित न होनेवाले प्रभो! **मे**=मेरे **पितुं पाहि**=अन्न की आप रक्षा करिए।

भावार्थ—मैं नरहित के कार्यों में लगकर, उत्तम प्रजावाला होकर सदा बना रहूँ। उत्तम बातों का शंसन करता हुआ ज्ञानी बनकर कामादि का ध्वंस करनेवाला 'वीर' बनूँ। विषयों से अनान्दोलित अथर्य बनकर पोषक अन्न को ही खाता हुआ 'सुपोष' बनूँ।

टिप्पणी—मन्त्रार्थ का चित्रण—

भूः	भुवः	स्वः
सुप्रजाः	सुवीरः	सुपोषः
नर्य	शंस्य	अथर्य
प्रजा की रक्षा	**कामादि पशुओं का नियमन**	**उत्तम अन्न-भक्षण**

ऋषिः—आसुरिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—अनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

अग्नि व सम्राट्

आगन्म विश्ववेदसमस्मभ्यं वसुवित्तमम्।
अग्ने सम्राडभि द्युम्नमभि सहऽआयच्छस्व॥३८॥

१. पिछले मन्त्र का ऋषि 'वामदेव' दिव्य गुणों को धारण करके अपने प्राणों का वास्तविक पोषण करने से 'आसुरि' बन जाता है। यह आसुरि प्रभु से प्रार्थना करता है—**हे अग्ने**=ज्ञान के प्रकाशवाले **सम्राट्**=शक्ति से (सम्+राज्) सम्यग् देदीप्यमान प्रभो! आपकी कृपा से हम **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **वसुवित्तम्** =निवास के लिए आवश्यक वस्तुओं को उत्तमता से प्राप्त करानेवाले **विश्ववेदसम्**=सम्पूर्ण धन को **आगन्म**=प्राप्त हों। प्रभु अग्नि हैं, सम्राट् हैं। मैं भी ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करके अग्नि बनूँ, और शरीर के सम्यक् पोषण व शक्ति की रक्षा से दीप्त शरीरवाला सम्राट् बनूँ।

२. हे प्रभो! आप कृपा करके मुझे **द्युम्नम् अभि**=ज्योति की ओर तथा **सहः अभि**= सहनशक्ति से परिपूर्ण बल की ओर, उसकी प्राप्ति के लिए **आयच्छस्व**=सम्पूर्ण उद्योग-(उद्यम)-वाला कीजिए, अर्थात् हमारा सारा पुरुषार्थ 'ज्ञान और बल' को प्राप्त करने के लिए हो। हमारा ध्येय 'ज्ञान+बल' ही हो। यही हमारी प्रार्थना हो कि **'इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्'**। हमें जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करानेवाला धन इसलिए प्राप्त हो कि हमारी सारी शक्ति 'ज्ञान और बल' के सम्पादन में लगे। ३. इस प्रकार ज्ञान और बल का सम्पादन करके यह सचमुच अपना पोषण करने वाला 'आसुरि' बनता है।

भावार्थ—हम अग्नि हों, हम सम्राट् हों। द्युम्न-ज्योति को प्राप्त करके हम 'अग्नि' बनें और बल का सम्पादन करके सम्राट् हों।

ऋषिः—आसुरिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—भुरिग्बृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

द्युम्न+सहः

अयमग्निर्गृहपतिर्गार्हपत्यः प्रजाया वसुवित्तमः।

अग्ने गृहपतेऽभि द्युम्नमभि सहऽआयच्छस्व॥३९॥

१. गत मन्त्र का आसुरि ही प्रार्थना करता है कि **अयम्**=यह **अग्निः**=प्रकाश की अधिदेवता प्रभु **गृहपतिः**=मेरे इस शरीररूप घर का रक्षक है। ये प्रभु ही **प्रजायाः**=प्रकृष्ट विकास के हेतु से **वसुवित्तमः** =अतिशयेन वसुओं को प्राप्त करानेवाले हैं। सब आवश्यक वसुओं को देकर वे प्रभु हमें इस योग्य बनाते हैं कि हम अपना सब प्रकार से विकास कर सकें। २. हे **अग्ने**=प्रकाश की अधिदेवता प्रभो! **गृहपते**=हमारे शरीररूपी गृहों के रक्षक प्रभो! आप हमें **द्युम्नम् अभि**=ज्ञान-ज्योति की ओर तथा **सहः अभि**=शक्ति की ओर **आयच्छस्व**=सम्पूर्ण उद्यमवाला कीजिए। ज्ञान और बल का सम्पादन करके ही मैं इस शरीररूप घर की रक्षा करनेवाला 'गृहपति' बनता हूँ। गृहपति ही 'आसुरि' होता है। प्राणों का वास्तविक पोषण करनेवाला होता है।

भावार्थ—मैं ज्ञान व बल का विकास करके शरीर की सभी शक्तियों का विकास करूँ और सचमुच गृह-पति बनूँ।

ऋषिः—आसुरिः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—निचृदनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

पुरीष्य अग्नि

अयमग्निः पुरीष्यो रयिमान् पुष्टिवर्धनः।

अग्ने पुरीष्याभि द्युम्नमभि सहऽआयच्छस्व॥४०॥

१. 'आसुरि' की ही प्रार्थना थोड़े से शब्दों के परिवर्तन के साथ प्रस्तुत मन्त्र में भी है—**अयम्**=इस संसार के प्रत्येक परिवर्तन में जिसका हाथ दिखता है, वह **अग्निः**=सबको उन्नत करनेवाला प्रभु **पुरीष्यः**=(पॄ पालनपूरणयोः) पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम है। प्रभु ने हमारे पालन के लिए सब आवश्यक पदार्थों को उत्पन्न किया है। **रयिमान्**=वे प्रभु रयिवाले हैं, उत्तम धनवाले हैं। जीवन के लिए आवश्यक धन प्राप्त कराके वे हमारा पालन करते हैं। **पुष्टिवर्धनः**=आवश्यक वसुओं व धनों को प्राप्त कराके वे प्रभु हमारी पुष्टि का वर्धन करनेवाले हैं। २. **हे अग्ने**=उन्नति के साधक प्रभो! **पुरीष्य**=पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम प्रभो! आप हमें **द्युम्नम् अभि**=ज्ञान-ज्योति की ओर और **सहः अभि**=बल की ओर **आयच्छस्व**=सम्पूर्ण उद्यमवाला कीजिए।

३. वास्तविक पोषण तभी होता है जब हम ज्ञान और बल का सम्पादन करते हैं। ज्ञान और बल का सम्पादन करनेवाला यह वस्तुतः 'आसुरि' है, अपने जीवन का ठीक पोषण करनेवाला है।

भावार्थ—वह सबका पालक प्रभु हमें ज्ञान और बल की ओर ले-चले।

ऋषिः—शंयुः। देवता—वास्तुरग्निः। छन्दः—आर्षीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

घर व घरवाले, अ-भय, गृहपति के लक्षण

गृहा॒ मा बि॑भीत॒ मा वे॑पध्व॒मूर्जं॒ बिभ्र॑त॒ऽएम॑सि।
ऊर्जं॒ बिभ्र॑द्वः सु॒मना॑ः सु॒मे॒धा गृ॒हानै॑मि॒ मन॑सा॒ मोद॑मानः॥४१॥

१. गत मन्त्रों की भावना के अनुसार 'द्युम्न और सह'=ज्योति और शक्ति का सम्पादन करके अपने जीवन के आकाश में बृहस्पति (ज्ञान) व शुक्र (वीर्य) नक्षत्रों का उदय करके जब यह 'आसुरि' प्राणशक्ति को सम्पन्न करनेवाला गृहस्थ बनता है तब कहता है कि **गृहाः**=हे घरो! **मा बिभीत**=भय को छोड़ दो। **मा वेपध्वम्**=कम्पित मत होओ। दूसरे शब्दों में घरों में साँप आदि का व रोगकृमियों का भय न हो, और साथ ही ये घर सील की अधिकता से रोगादि के कारण शरीर में कम्प पैदा करनेवाले न हों। **ऊर्जं बिभ्रतः**=अन्न को धारण करते हुए तुम्हें **आ-इमसि**=अन्न के साथ ही हम प्राप्त होते हैं, अर्थात् घर अन्न से पूरिपूर्ण हों।

२. इस प्रकार मन्त्र के पूर्वार्ध में घर की इन विशेषताओं का उल्लेख है कि (क) उनमें साँप व रोगादि का भय न हो। (ख) वहाँ सील के कारण ज्वरादि से कम्प न हो, (ग) वे अन्न से परिपूर्ण हों। अब मन्त्र के उत्तरार्ध में **घर में रहनेवालों की विशेषताओं** का प्रतिपादन करते हैं कि (क) **ऊर्जम्**=बल और प्राणशक्ति को **बिभ्रत्**=धारण करता हुआ मैं (ख) **सुमनाः**=उत्तम मनवाला—जिस मन के अन्दर किसी प्रकार की अशुभ इच्छा उत्पन्न नहीं होती उस मन को धारण करता हुआ, (ग) **सुमेधाः**=उत्तम मेधावाला (घ) **मनसा मोदमानः**=सदा प्रसन्न मनवाला **वः गृहान्**=तुम घरों को **एमि**=प्राप्त होता हूँ।

भावार्थ—हमारे घर रोगादि के भय से रहित, ज्वरजनित कम्प से शून्य व अन्न-रस से पूरिपूर्ण हों। इन घरों में रहनेवाले शक्तिशाली, उत्तम मनवाले, शोभन-प्रज्ञ व प्रसन्न मनोवृत्तिवाले हों।

ऋषिः—शंयुः। देवता—वास्तुपतिरग्निः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

उत्तम घर

येषा॑म॒ध्येति॑ प्र॒वस॒न् येषु॑ सौमन॒सो ब॒हुः।
गृ॒हानुप॑ह्वयामहे॒ ते नो॑ जानन्तु जान॒तः॥४२॥

पिछले मन्त्र में घर का उल्लेख करते हुए कहा था कि वहाँ रोग का भय नहीं, ज्वर का कम्प नहीं, अभाव के कारण रोना-धोना नहीं और घरवाले व्यक्तियों के विषय में कहा था कि वे शक्तिसम्पन्न, उत्तम इच्छाओंवाले, समझदार व प्रसन्न मन हों। ऐसे घर का प्रवास में स्मरण आना स्वाभाविक है, अतः प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि—१. **गृहान्**=उन घरों को **उपह्वयामहे**=पुकारते हैं, अर्थात् ऐसे घरों की प्राप्ति के लिए हम प्रार्थना करते हैं, **येषाम्**=जिनका **प्रवसन्**=प्रवास में रहता हुआ मनुष्य **अध्येति**=स्मरण करता है। घर में भार्या कर्कश स्वभाव की हो तब तो सम्भवतः पुरुष प्रवास को अच्छा ही समझे। पति कर्कश हों तो पितृगृह में गई हुई पत्नी शायद कुछ आराम अनुभव करे और पतिगृह में लौटने को एक मुसीबत माने। २. हम उन घरों को पुकारते हैं **येषु**=जिनमें **बहुः**=बहुत ही **सौमनसः**=सुमनस्कता है, जिनमें रहनेवाले लोगों के मन अच्छे हैं, द्वेष व जलन आदि से भरे हुए नहीं हैं। ऐसे

ही घरों की तो प्रवास में याद आती है। ३. **ते**=वे घर **जानतः**=उपकाराभिज्ञ (अकृतघ्न) **नः**=हम लोगों को **जानन्तु**=जानें, अर्थात् घर में पति पत्नी के तथा पत्नी पति के उपकार को समझे। भाई भाई की भलाई को भूल न जाए। पुत्र युवा होने पर माता-पिता के ऋण को भूल न जाए और घर के सब व्यक्ति उस परमपिता प्रभु की कृपाओं को विस्मृत न कर दें। इस प्रकार इस घर में कृतघ्नता का प्रवेश न हो।

भावार्थ—उत्तम घर वे हैं जिनमें रहनेवाले लोग 'सुमनस्कता' वाले हैं, कृतज्ञ हैं और इस कारण जिन घरों की प्रवास में याद आती है।

ऋषिः—शंयुर्बार्हस्पत्यः। **देवता**—वास्तुपतिः। **छन्दः**—भुरिग्जगती। **स्वरः**—निषादः॥

घर में क्या-क्या हो

उपहूताऽइह गावऽउपहूताऽअजावयः।
अथोऽअन्नस्य कीलालऽउपहूतो गृहेषु नः।
क्षेमाय वः शान्त्यै प्रपद्ये शिवꣳशग्मꣳशंयोःशंयोः॥४३॥

१. **इह**=इस घर में **गावः उपहूताः**=गौवें पुकारी गई हैं, अर्थात् हमारी पहली कामना यह है कि घर में गौवों की कमी न हो। २. **इह**=घर में **अजा अवयः**=बकरियाँ व भेड़ें **उपहूताः**=पुकारी गई हैं, अर्थात् हमारे घरों में बकरियाँ व भेड़ें हों। बकरियों का दूध क्षयरोग को दूर रखता है तो भेड़ों की ऊन हमें सर्दी के लिए उत्तम वस्त्र प्राप्त कराती है। ३. **अथ उ**=और अब **नः गृहेषु**=हमारे घरों में **अन्नस्य**=अन्न का **कीलालः**=रस **उपहूतः**=पुकारा गया है। हमारे घरों में अन्न-रस की कमी न हो। यहाँ मांस-रस का प्रवेश न हो। ४. हे घरो! **वः**=तुम्हें **क्षेमाय**=योगक्षेम के लिए, सुन्दर जीवन-निर्वाह के लिए प्राप्त होता हूँ। **शान्त्यै**=शान्ति के लिए प्राप्त होता हूँ। मनुष्य घर का निर्माण इसीलिए करता है कि वहाँ उसको क्षेम व शान्ति प्राप्त हो। ५. **शिवं शग्मम्**=हमें इन घरों में ऐहिक सुख प्राप्त हो तो आमुष्मिक सुख को भी हम प्राप्त करनेवाले बनें, अर्थात् हमारे घर 'अभ्युदय व निःश्रेयस' दोनों को सिद्ध करनेवाले हों। इनमें खान-पान की कमी न हो, पर खान-पान की आसक्ति भी न हो। ६. इस घर में **शंयोः**=शान्ति चाहनेवाले के **शंयोः** =(शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्—नि० ८।२१) रोगों का शमन हो और सब प्रकार के भयों का यावन—दूरीकरण हो।

भावार्थ—'शंयु' (शान्ति चाहनेवाले) के घर में—(क) गौवें, (ख) बकरी व भेड़ें होती हैं, (ग) इसके घर में अन्न का रस होता है, (घ) योगक्षेम की कमी नहीं होती, (ङ) शान्ति का विस्तार होता है, (च) ऐहिक सुख के साथ आमुष्मिक कल्याण भी होता है और (छ) रोगों का शमन व भयों का दूरीकरण होता है।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

ऋषियों का आना

प्रघासिनो हवामहे मरुतश्च रिशादसः। करम्भेण सजोषसः॥४४॥

१. ऊपर ४१-४३ के मन्त्रों में वर्णित घरों में शान्तिपूर्वक रहनेवाले 'शंयु' लोग उत्तम प्रजाओं का निर्माण करनेवाले होते हैं, अतः वे प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'प्रजापति' बन जाते हैं। ये प्रजापति समय-समय पर उत्तम ऋषियों को घरों पर आमन्त्रित करते रहते हैं, जिससे उनके उपदेशों से सन्तान पर उत्तम प्रभाव पड़े। यही विषय 'प्रस्तुत मन्त्र' का है।

२. **मरुतः**=(ऋत्विङ्नाम–नि० ३।१८) हम ऋषियों को **हवामहे**=पुकारते हैं, समय-समय पर ऋषियों को अपने घरों पर बुलाते हैं, जिससे इनके द्वारा विधिवत् किये जानेवाले यज्ञों का व इनसे दिये जानेवाले उपदेशों का सन्तान पर सुन्दर प्रभाव पड़े।

३. कैसे ऋषियों को? (क) **प्रघासिनः**=प्रकृष्ट घासवाले (घस्लृ अदने)। उत्तम वानस्पतिक भोजनवाले, अर्थात् जो ऋत्विज् मांस भोजनों से सदा दूर रहते हैं, जिनका भोजन हविर्मय है। (ख) **रिशादसः**=(रिशां दस्यन्ति) जो हिंसा को समाप्त कर देते हैं। जिनका मन हिंसा की वृत्ति से सदा दूर रहता है, (ग) **करम्भेण** =दधिमिश्रित सत्तुओं का **सजोषसः**=प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले हैं। महीधर लिखते हैं कि यवमय हविर्विशेष 'करम्भ' कहलाती है। उसका ये प्रीतिपूर्वक प्रयोग करते हैं। आचार्य दयानन्द इस शब्द का निर्माण 'कृ हिंसायाम्' से करके यह अर्थ करते हैं कि (अविद्या हिंसनेन समानप्रीतिसेविनः) अविद्या के हिंसन का जो प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं, अर्थात् जिन्हें अविद्या के दूर करने में आनन्द का अनुभव होता है।

४. ऐसे ऋषि जिन घरों में आते रहेंगे वहाँ लोग अवश्य 'प्रजापति' बनेंगे, उत्तम सन्तानों का निर्माण कर पाएँगे। 'इनके जीवन पापशून्य होंगे' इस बात का वर्णन अगले मन्त्र में करेंगे।

भावार्थ—हमारे घरों में प्रकृष्ट शाकाहारी, हिंसा से पराङ्मुख, दधि-यवादि पवित्र वस्तुओं का सेवन करनेवाले ऋषिजन समय-समय पर आते रहें।

ऋषिः—प्रजापतिः। **देवता**—मरुतः। **छन्दः**—स्वराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

पाप का अवयजन

यद् ग्रामे यदरण्ये यत् सभायां यदिन्द्रिये।
यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे स्वाहा॥४५॥

प्रजापति प्रार्थना करता है कि—१. **यत्**=जो **एनः**=पाप **ग्रामे**=ग्राम के विषय में **वयम्**=हम **चकृम**=कर बैठे हैं **इदम्**=इस **तत् एनः**=उस पाप को **अवयजामहे**=यज्ञों के द्वारा दूर करते हैं। ग्राम में निवास करनेवाले को उत्तम नागरिक बनना चाहिए। उसे कभी उत्तम नागरिक के कर्त्तव्यों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। 'मार्गों को मलिन करना, मार्गों पर चलने आदि के नियमों का पालन न करना, पड़ोसियों के आराम आदि का ध्यान न करके शोर करते रहना, शराब आदि के नशे में उपद्रवादि करना'—ये सब ग्रामविषयक पाप हैं। हमें इनसे बचने का यत्न करना चाहिए। ऋषियों के समय-समय पर आते रहने से हममें यज्ञिय भावना जागरित रहेगी और हम ऐसे पाप न करेंगे। २. **यत् अरण्ये**=जो पाप हम वन के विषय में करते हैं, उसे भी यज्ञ से दूर करते हैं। 'वृक्षों को काटते रहना और नयों का न लगाना, निषिद्ध प्राणियों का शिकार करना अथवा वनों में वर्त्तमान आश्रमों को उजाड़ना' ये सब अरण्यविषयक पाप हैं। इनसे भी हम बचें। ३. **यत् सभायाम्**=जो पाप हम सभा में करते हैं, उसका भी हम अवयजन (दूर) करनेवाले हों। 'सभा की शान्ति को भङ्ग करना, वहाँ उपदेश न सुन ऊँघते रहना, परस्पर बातें करना, शिष्ट रीति से न बैठना' आदि सभा-विषयक पाप हैं। इन्हें भी हमें दूर करना है। ४. **यत् इन्द्रिये**=जो इन्द्रियों के विषय में हमसे पाप हुए हैं उसे भी हम यज्ञ से दूर करते हैं। अतिभोजन, अशुभ दर्शन, निन्दाश्रवण, निन्दाकथन व असंयम आदि इन्द्रियों के दोषों को भी हम यज्ञ से दूर करनेवाले हों। ५. **स्वाहा**=(स्वं

प्रति आह) यही बात हमें सदा अपने से कहते रहना चाहिए। निरन्तर इस प्रकार आत्मप्रेरणा देने से हमारा जीवन इन सब पापों से ऊपर उठेगा, वह पवित्र होगा और हम पवित्र सन्तानों के निर्माण करनेवाले 'प्रजापति' बन पाएँगे।

भावार्थ—यज्ञादि से हमारी पापवृत्तियाँ दूर होती जाएँ। हम ग्राम, अरण्य, सभा व इन्द्रियविषयक सब पापों से ऊपर उठें।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—इन्द्रमारुतौ। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

हाथों में कर्म, वाणी में स्तवन

मो षू णऽइन्द्रात्र पृत्सु देवैरस्ति हि ष्मा ते शुष्मिन्नवयाः।
महश्चिद्यस्य मीढुषो यव्या हविष्मतो मरुतो वन्दते गीः॥४६॥

१. पिछले मन्त्र में पापों को दूर करने का उल्लेख है। यह पापों को दूर करनेवाला 'अगस्त्य' कहलाता है। 'अग'=पापपर्वत का 'स्त्य'=संहार करनेवाला। यह अगस्त्य प्रभु से प्रार्थना करता है—हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् सर्वैश्वर्यवन् प्रभो! **अत्र**=यहाँ—इस मानव-जीवन में **पृत्सु**=संग्रामों में **नः**=हमारा **मा**=मत **उ**=ही मन्थन (नाश) हो (विनाशयतीति शेषः—म०)। (सुशब्दो विनाशभावस्य सौष्ठवं ब्रूते—म०) **सु**=थोड़ा-सा भी नाश मत हो। हे प्रभो! आपकी कृपा से हम इन काम-क्रोधादि से संघर्ष में तनिक भी पराजित न हों। २. **हे शुष्मिन्**=शत्रुओं के शोषक बलवाले प्रभो! **देवैः**=देववृत्तिवालों द्वारा **ते**=तेरा **अवयाः**=(अवयुतो भागः) पृथक् भाग **अस्ति हि ष्म**=निश्चय से है ही, अर्थात् देव प्रातः-सायं संसार से अलग होकर कुछ देर के लिए प्रभु का ध्यान अवश्य करते हैं। वह प्रभु-चिन्तन ही वस्तुतः उन्हें देव बनाता है। ३. **हविष्मतः**=उस प्रशस्त हविवाले, अर्थात् सब उत्तम पदार्थों को देनेवाले **मीढुषः**=(मिह सेचने) सब सुखों की वर्षा करनेवाले **यस्य**=प्रभु की **यव्या**=(यु मिश्रणामिश्रणयोः) अपने जीवन को दोषों से पृथक् करना और गुणों से संयुक्त करना **चित्**=ही **महः**=पूजा है। हम बुराइयों को छोड़ें और अच्छाइयों को लें, यही प्रभु-पूजा है। ४. **मरुतः**=इस यव्या—दोषत्याग एवं गुणसंग्रह के द्वारा प्रभु-पूजा करनेवाले मरुत् (मनुष्य की) **गीः**=वाणी **वन्दते**= प्रभु का स्तवन करती है। 'मरुत' मितरावी है, कम बोलता है। अपने अन्दर अच्छाइयों को ग्रहण करने का प्रयत्न करता है। अपने कार्यों में लगा हुआ प्रभु-स्तवन करता है। हाथ काम में लगे हैं तो वाणी प्रभु का गुणगान करती है।

भावार्थ—अवगुणों को दूर करना व गुणों को धारण करना ही 'प्रभु-स्तवन' है।

ऋषिः—अगस्त्यः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—विराडनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

वापस घर चलो

अक्रन् कर्म कर्मकृतः सह वाचा मयोभुवा।
देवेभ्यः कर्म कृत्वास्तं प्रेत सचाभुवः॥४७॥

पिछले मन्त्र के प्रसङ्ग को ही प्रस्तुत मन्त्र में आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि—१. **कर्मकृतः**=कर्मों को करनेवाले **कर्म**=कर्म ही **अक्रन्**=करते हैं। ये अपना जीवन यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगाये रखते हैं और कर्मों को करते हुए **मयोभुवा**=कल्याण को जन्म देनेवाली **वाचा सह**=वाणी के साथ ये इन कर्मों को करते हैं। ये हाथों से कर्म करते हैं और वेदवाणी के द्वारा प्रभु का गुणगान करते हैं। यह वाणी मयोभूः=कल्याण का भावन करनेवाली है। २. **देवेभ्यः**=इस प्रकार दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए **कर्म कृत्वा**=कर्म

करके **अस्तम्**=घर को **प्रेत**=वापस चलो। आत्मशुद्धि के लिए कर्म करते रहना नितान्त आवश्यक है। आलस्य आया और अवगुणों ने घेरा। ३. इन कर्मों को करते हुए यदि हम **सचाभुवः**='साथ होनेवाले'=मिलकर चलनेवाले बनते हैं तो अपने घर में वापस पहुँचने के योग्य होते हैं। ब्रह्मलोक जीव का वास्तविक घर है। जीव यहाँ तो यात्रा पर आया हुआ है। यहाँ हमें 'सचाभुवः' बनना है, मिलकर चलना है। जीओ और जीने दो 'Live and let live' का पाठ सीखना है। प्रभु-प्राप्ति का यही मार्ग है। यही यज्ञियवृत्ति कहलाती है। देवताओं का जीवन ऐसा ही होता है।

भावार्थ—हमारे हाथ यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगें, वाणी कल्याणी वेदवाणी का उच्चारण करती हो। क्रियाशीलता से हम अपने में दिव्य गुणों को जन्म दें, संसार में मिलकर रहना सीखें, तभी हम वापस अपने घर 'ब्रह्मलोक' में पहुँचेंगे।

ऋषिः—और्णवाभः। **देवता**—यज्ञः। **छन्दः**—ब्राह्म्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

अवभृथ-निचुम्पुण

अव॑भृथ निचुम्पुण निचे॒रुर॑सि निचुम्पु॒णः।
अव॑ दे॒वैर्दे॒वकृ॑त॒मेनो॑ऽयासिष॒मव॒ मर्त्यै॒र्मर्त्य॑कृतं पुरु॒राव्णो॑ देव रि॒षस्पा॑हि॥४८॥

१. गत मन्त्र में अगस्त्य यज्ञादि उत्तम कर्मों के जाल को तनता है, परन्तु खूबी यह कि उस जाल में फँसता नहीं, अतः यह उस मकड़ी की भाँति होता है जो जाले को तनती तो है पर उसमें उलझती नहीं। एवं, इसका नाम 'और्णवाभ' पड़ जाता है। २. निरन्तर यज्ञों में लगे रहने से इसको ही सम्बोधित करते हैं। **अवभृथ**=हे यज्ञ के पुतले! (**अवभृथ**=Sacrifice in general) **निचुम्पुण**=(चोपति मन्दं गच्छति) निश्चय से शान्तिपूर्वक अपने जीवन-मार्ग पर चलनेवाले अथवा (नीचैः क्वणनः) यज्ञों को करते हुए व्यर्थ में उनका ढिंढोरा न पीटनेवाले, बहुत शोर न करनेवाले तू **निचेरुः असि**=(नितरां चरणशील) क्रियाशील है। तेरा जीवन क्रियामय है, परन्तु तू यह ध्यान रखना कि **निचुम्पुणः**=शान्तिपूर्वक चलना, व्यर्थ का शोर न करना। ३. **देवकृतं एनः**=देवताओं के विषय में किये गये पापों को **देवैः**=दिव्य गुणों के उत्पादन के द्वारा **अव अयासिषम्** =मैं दूर करूँ। शरीर में सब इन्द्रियाँ देवांश हैं—सूर्य चक्षुरूप से है तो अग्नि वाणीरूप से, चन्द्रमा मनरूप से है तो दिशाएँ श्रोत्ररूप से। इन देवों के विषय में पाप यही है कि हम इनका ठीक प्रयोग नहीं करते। ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानप्राप्ति में लगें, कर्मेन्द्रियाँ उत्तम कर्मों में और मन शिवसंकल्प में। यही मार्ग है देवकृत पापों को दूर करने का, यही मार्ग है दिव्य गुणों की प्राप्ति का। ४. **मर्त्यकृतम् (एनः)**=मनुष्यों के विषय में किये गये पाप को मैं **मर्त्यैः**=(मरणधर्मैः शरीरैः—द०) मरणधर्म शरीरों से **अव अयासिषम्**=दूर करूँ, अर्थात् मनुष्यों के हित के लिए अपने शारीरिक सुखों का त्याग करके और अन्ततः अपने शरीर का भी बलिदान करके हम मर्त्यकृत पाप का प्रायश्चित्त कर पाते हैं। ५. **देव**=दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! आप हमें **पुरुराव्णः** (रु शब्दे रावयति)=बहुतों को रुलानेवाली **रिषः**=हिंसा से **पाहि**=बचाइए। हमारे कर्म हिंसा करके पीड़न के द्वारा रुलानेवाले न हों। हमारे कर्म सत्य हों, सत्य कर्म वही हैं जो अधिक-से-अधिक हित करनेवाले हैं **'यद् भूतहितमत्यन्तं तत् सत्यमिति धारणा'**।

भावार्थ—हम यज्ञमय जीवनवाले हों, परन्तु बिना शोर के शान्तभाव से इन यज्ञों में लगे रहें। हमारे यज्ञ महान् हों, नकि उनका आडम्बर महान् हो।

ऋषिः—और्णवाभः। देवता—यज्ञः। छन्दः—अनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

पूर्णा-सुपूर्णा

पूर्णा दर्वि परा पत सुपूर्णा पुनरा पत।
वस्नेव विक्रीणावहाऽइषमूर्जꣳ शतक्रतो॥४९॥

गत मन्त्र की भावना के अनुसार 'और्णवाभ' अपने जीवन में यज्ञों का जाल तन देता है। उन यज्ञों में उसे लाभ-ही-लाभ दिखता है। आर्थिक दृष्टिकोण से भी ये यज्ञ घाटे का सौदा नहीं होते। यह और्णवाभ कहता है कि १. हे **दर्वि**=हवि से पूर्ण कड़छी! तू **पूर्णा**=भरी हुई **परापत**=इन्द्र के प्रति जा। मनु के शब्दों के अनुसार अग्नि में डाली हुई आहुति (**अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते**) सूर्य=(इन्द्र) तक पहुँचती है। अग्नि में डाला हुआ यह हविर्द्रव्य नष्ट नहीं होता, क्योंकि **'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः, पर्जन्यादन्नसम्भवः'** इन यज्ञों से बादल बनते हैं और बादल से फिर अन्न उत्पन्न होता है। इस प्रकार हे कड़छी! तू **सुपूर्णा**=अन्नादि से खूब भरी हुई **पुनः आपत**=फिर से हमें प्राप्त होजा। वर्षा होती है, तो किसान भी समझता है और कहता है कि पानी नहीं, सोना बरस रहा है। एवं, कड़छी जाती तो 'पूर्णा' है, पर लौटती है 'सु-पूर्णा'। एवं ये यज्ञ घाटे की वस्तु थोड़े ही हैं? २. इन यज्ञों से तो हम उस प्रभु के साथ **वस्ना इव** =मानों मूल्य देकर **इषम् ऊर्जम्**=अन्न व बल-प्राणशक्ति का **विक्रीणावहै**=क्रय-विक्रय करते हैं। ३. **हे शतक्रतो**=अनन्त क्रतुओंवाले प्रभो! मैं भी आपकी कृपा से शतक्रतु बनूँ। मेरे जीवन के सौ-के-सौ वर्ष यज्ञमय बीतें।

भावार्थ—'यज्ञ' हमारे जीवन का सर्वोत्तम क्रय-विक्रय है।

ऋषिः—और्णवाभः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—भुरिगनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

दान-प्रतिदान

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे।
निहारꣳ च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहा॥५०॥

प्रभु और्णवाभ से कहते हैं कि तुझसे किये जानेवाले ये यज्ञ तो निश्चित रूप से तेरे लाभ के लिए ही हैं। यदि अत्यन्त स्थूल (concrete) भाषा में कहा जाए तो यह कह सकते हैं कि **देहि मे**=हे और्णवाभ तू मुझे दे, **ददामि ते**=और मैं तुझे देता हूँ। तू यज्ञों से मेरे लिए अन्न प्राप्त कराता है तो मैं वृष्टि द्वारा तुझे सहस्त्रगुणा अन्न प्राप्त कराता हूँ। **मे निधेहि**=तू मेरे लिए अपनी निधि को स्थापित कर, **ते निदधे**=मैं तेरे लिए निधि को स्थापित करता हूँ। **च**=और तू **मे**=मेरे लिए **निहारम्**=मूल्य को **हरासि**=प्राप्त कराता है तो मैं भी **ते**=तेरे लिए **निहारम्**=(मूल्येन क्रेतव्यं पदार्थम्—म०) पदार्थों को **निहराणि**=निश्चय से देता हूँ। **स्वाहा**=यह मेरी सत्य प्रतिज्ञा है।

एवं, ये यज्ञ आदान-प्रदान रूप हैं। और्णवाभ इस आदान-प्रदान की प्रक्रिया में आनन्द का अनुभव करता है—उसके लिए यह क्रिया सहज हो जाती है। वह फल की कामना से ऊपर उठने के कारण इस क्रिया को करता हुआ भी इसमें उलझता नहीं। वह इस सबको प्रभु का दिया हुआ जानता है। इसे प्रभु को देते हुए कुछ बोझ नहीं लगता। उसने दिया, पर वह कितना ही गुणा होकर फिर उसे ही मिल गया।

भावार्थ—हम यज्ञों को प्रभु के साथ आदान-प्रदान का एक व्यवहार समझें।

ऋषिः—गोतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराट्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

'गोतम' बनना

अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रियाऽअधूषत।
अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती योजा न्विन्द्र ते हरी ॥५१॥

१. गत मन्त्र का 'और्णवाभ' यज्ञों के जाल को तनता हुआ 'गोतम' बन जाता है। 'अत्यन्त प्रशस्त इन्द्रियोंवाला' (गावः इन्द्रियाणि, तम=अतिशये)। ये उत्तम इन्द्रियोंवाले लोग **अक्षन्**=(घस् अदने) उत्तम वानस्पतिक भोजन करते हैं। 'अक्षन्' शब्द में 'घस्' धातु घास व वनस्पति भोजन का संकेत करती है। २. ये **अमीमदन्त**=एकदम सादा भोजन करते हुए उसी में आनन्द का अनुभव करते हैं। ३. **हि**=निश्चय से **प्रियाः**=सबके साथ प्रीतिपूर्वक वर्त्तनेवाले ये लोग **अव अधूषत**=सब वासनाओं को कम्पित करके अपने से दूर रखते हैं। इनका जीवन वासनामय नहीं होता। वानस्पतिक भोजन व प्रसन्न मनोवृत्ति ये दोनों बातें वासनाओं से बचने में सहायक होती हैं। ४. वासनाओं को दूर रखने के उद्देश्य से ही ये **अस्तोषत्**=प्रभु का स्तवन करते हैं। ५. इस प्रभु-स्तवन के कारण इनके जीवन में एक दिन वह आता है जब ये **स्वभानवः**=आत्मा की दीप्तिवाले होते हैं। इन्हें आत्मप्रकाश दिखता है। ६. **विप्राः**=(वि+प्रा) ये अपना विशेष रूप से पूरण करनेवाले होते हैं। ७. **नविष्ठया**=(नु स्तुतौ) अत्यन्त स्तुत्य अथवा प्रभु-स्तवन की उत्तम भावना से युक्त **मती**=(मत्या) बुद्धि से ये युक्त होते हैं। इनका प्रभु-स्तवन यान्त्रिक-सा (mechanical) न होकर बुद्धिपूर्वक होता है। ८. प्रभु से ये यही आराधना करते हैं कि हे **इन्द्र** =सब इन्द्रियों के वास्तविक अधिष्ठाता प्रभो! **ते**=आपके **हरी**=इन कर्मेन्द्रियपञ्चक व ज्ञानेन्द्रियपञ्चक रूप घोड़ों को **योज नु**=निश्चय से हमारे साथ संयुक्त कीजिए या इन्हें कार्य में लगाये रखिए। जैसे घोड़े को रथ में जोतते हैं, इसी प्रकार मेरे इन इन्द्रियरूप घोड़ों को आप ज्ञानयज्ञ व कर्मयज्ञ में जोते रखिए। इन्द्रियाँ कर्मों में लगी रहने पर पवित्र बनती हैं, अन्यथा इनमें अपवित्रता आ जाती है। एवं, इन घोड़ों को जोते रखना ही 'गोतम' बनने का उपाय है।

भावार्थ—हमारा भोजन सादा हो, हम सदा प्रसन्न रहें, वासनाओं से बचें, प्रभुस्तवन को महत्त्व दें और इन्द्रियों को ज्ञान व यज्ञों में लगाये रक्खें।

ऋषिः—गोतमः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराट्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

गोतम का प्रभुस्तवन

सुसन्दृशं त्वा वयं मघवन् वन्दिषीमहि।
प्र नूनं पूर्णबन्धुर स्तुतो यासि वशाँ२॥ऽअनु योजा न्विन्द्र ते हरी ॥५२॥

१. पिछले मन्त्र के शब्दों के अनुसार जब गोतम प्रभु का स्तवन करता है तब कहता है कि हे **मघवन्**=(मघ=मख) इस सृष्टिरूप यज्ञ के रचनेवाले प्रभो! **सुसन्दृशम्**=अत्यन्त सुन्दर दर्शनवाले **त्वा**=आपकी **वयम्**=हम **वन्दिषीमहि**=वन्दना करते हैं। प्रभु इस सृष्टि के रचयिता तो हैं ही, यह सृष्टि इस यज्ञरूप प्रभु का एक यज्ञ भी है। प्रभु ने इसे प्रकृति से बनाया और जीव की उन्नति के लिए बनाया, परन्तु जब हम उस प्रभु को प्रकृति व जीव से अलग सोचने का प्रयत्न करते हैं तो इतना ही कह सकते हैं कि वे अत्यन्त सुन्दर हैं, 'सुसन्दृश' हैं। प्रभु का दर्शन अत्यन्त रमणीय है, आसेचनक है, वहाँ पहुँचकर मन ऊबता

नहीं। २. हे **पूर्णबन्धुर**=पूर्ण है लोक-लोकान्तरों का बन्धन जिसका ऐसे प्रभो! आप **स्तुतः**=स्तुति किये जाने पर **वशान् अनुयासि**=अपने मन को वश में करनेवालों को अनुकूलता से प्राप्त होते हैं। जितना-जितना हम अपने मन को वश में करते हैं, उतना- उतना हम आपको प्राप्त करने के पात्र बनते जाते हैं। आप पूर्णबन्धुर है। वृष्टि की क्रिया में ही किस प्रकार तीनों लोक परस्पर सम्बद्ध हैं। द्युलोक के सूर्य से पृथिवीलोक का जल वाष्पीभूत होता है और उन वाष्पों से अन्तरिक्षलोक में मेघों का निर्माण होता है। ३. इस पूर्णबन्धुर प्रभु से गोतम कहता है कि हे **इन्द्र**=मेरी इन्द्रियों के अधिष्ठाता प्रभो! आप इन **ते हरी**=अपने इन्द्रियरूप घोड़ों को **योज नु**=निश्चय से ज्ञानयज्ञों में जोते रखिए। ये मेरी इन्द्रियाँ कर्मों में लगी रहेंगी तभी तो 'पवित्र' बनी रहेंगी।

भावार्थ—हम अपने में अत्यन्त सुन्दर प्रभु की स्तुति करते हैं। वे प्रभु पूर्णबन्धुर हैं। इस सृष्टि के लोकों को परस्पर बाँधनेवाले हैं, वे स्तोता को ही प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—बन्धुः। **देवता**—मनः। **छन्दः**—अतिपादनिचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

स्तोम व मन्म=स्तुति व ज्ञान

मनो॒ न्वाह्वा॑महे नाराश॒ꣳसेन॒ स्तोमे॑न। पि॒तॄणां च॒ मन्म॑भिः॥५३॥

१. पिछले मन्त्र का ऋषि 'गोतम'='प्रशस्त इन्द्रियोंवाला' इन्द्रियों को प्रशस्त रखने के लिए ही मनरूपी लगाम से उनको वश में रखता है—विषयों में जाने से रोकता है और उत्तम कार्यों में बाँधता है। ऐसा बन्धन करनेवाला यह अब 'बन्धु' बन जाता है। ये बन्धु प्रार्थना करते हैं कि **मनः**=मन को **नु**=अब **आह्वामहे** =पुकारते हैं, अर्थात् ऐसे मन के लिए प्रार्थना करते हैं जो (क) **नाराशंसेन**='नार'—नरसमूह को 'आशंस' =सर्वतः प्रशंसनीय बनानेवाले **स्तोमेन**=स्तुतिसमूह से युक्त है और **पितृणाम्**=ज्ञानदाता आचार्यों के **मन्मभिः** =मननीय ज्ञानों से सम्पन्न है। मन वही ठीक है जो या तो प्रभु के स्तवन में लगा हुआ है या ज्ञानप्राप्ति में। मन के दो ही व्यसन उत्तम हैं—'हरिपादसेवनम्, विद्याभ्यसनम्'। ऐसे मन को प्राप्त करके हम इन्द्रियरूप घोड़ों को पूर्णरूप से बाँधनेवाले व वश में करनेवाले होंगे। २. **स्तोम**=स्तुति 'नाराशंस' है। नरसमूह के जीवन को सब दृष्टिकोणों से सुन्दर बनानेवाली है। स्तुति से मनुष्य के सामने एक उच्च लक्ष्य-दृष्टि पैदा होती है और उस लक्ष्य की ओर बढ़ता हुआ वह सुन्दर जीवनवाला होता है। ३. **मन्म**=मननीय ज्ञान **पितृणाम्** =पितरों का है, रक्षकों का है। ज्ञान का सर्वप्रथम लाभ यही है कि यह हमारी रक्षा करता है। हमें ठीक भोजन की प्रवृत्तिवाला बनाकर यह स्वस्थ बनाता है तो वासनाओं को नष्ट करके यह हमें मानस-स्वास्थ्य भी देता है।

भावार्थ—प्रभो! हमें वह मन दीजिए जो स्तवन व विद्याध्ययन में लगा हो।

ऋषिः—बन्धुः। **देवता**—मनः। **छन्दः**—विराड्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

क्रतु व दक्ष=संकल्प व उत्साह (कर्म व उत्साह)

आ नऽए॒तु मन॒: पुन॒: क्रत्वे॒ दक्षा॑य जी॒वसे॑। ज्योक् च॒ सूर्य॑ दृ॒शे॥५४॥

'बन्धु' ही प्रार्थना करते हैं कि **नः**=हमें **पुनः**=फिर **मनः**=मन **आएतु**=सर्वथा प्राप्त हो। किसलिए? १. **क्रत्वे**=कर्मसंकल्प के लिए। जिस मन में उत्तमोत्तम कर्मों का सदा संकल्प हो। कर्मसंकल्पशून्य मन वेगशून्य घोड़े के समान है या दूध से रहित गौ के सदृश

है या वह मन तो नक्षत्रविहीन गगन है। २. **दक्षाय**=उत्साह के लिए। मेरे मन में उत्साह हो। निराशा से भरा हुआ मन मनुष्य को कभी उन्नत नहीं कर सकता। ३. **जीवसे**=प्राणशक्ति के धारण के लिए (जीव प्राणधारणे) प्राणशक्ति से रहित मन मृत-सा होता है। ४. **च**=और **ज्योक्**=दीर्घकाल तक **सूर्यं दृशे**=सूर्य के दर्शन के लिए। जिस समय मन में कर्मसंकल्प, उत्साह व जीवनीशक्ति की कमी होती है, उस समय मनुष्य दीर्घकाल तक जीवन-धारण नहीं कर पाता। ऐसा निर्बल मन इन्द्रियों को वश में क्या करेगा?

भावार्थ—हमारे मन कर्मसंकल्प, उत्साह व जीवटवाले हों।

ऋषिः—बन्धुः। **देवता**—मनः। **छन्दः**—निचृद्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

व्रतमय जीवन

पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः। जीवं व्रातꣳसचेमहि ॥५५॥

१. मन के विषय में बन्धु की प्रार्थना आगे इस प्रकार होती है कि **पितरः**=आचार्य व **दैव्यः जनः**=सब दिव्य वृत्तियोंवाले लोग **नः**=हमें **पुनः**=फिर **मनः**=मन को **ददातु**=दें। यह हमारा मन सांसारिक विषयों में भटककर 'हमारा' न रह गया था। आचार्यों से व दिव्य वृत्तिवाले जनों से उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त करके हम अपने मन को विषय-व्यावृत्त करके फिर से प्राप्त करनेवाले बनें। २. इस मन को विषयों से लौटाकर हम **व्रातम्**=(व्रतसमूहसमन्वितम्) व्रतों से युक्त **जीवम्**=जीवन को **सचेमहि**=प्राप्त करें। हमारा मन व्रतों की रुचिवाला हो। ये व्रत ही हमारे जीवन को सुन्दर बनाते हैं। व्रत ही मन को दृढ़ करते हैं और तब वह दृढ़ मनरूपी लगाम ही इन्द्रियरूप घोड़ों को सुसारथि की भाँति वश में कर सकेगी।

भावार्थ—हमारा मन दिव्य वृत्तिवाला हो और उत्कृष्ट ज्ञान की प्राप्ति में लगा हो।

ऋषिः—बन्धुः। **देवता**—सोमः। **छन्दः**—गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

सोम का व्रत (ब्रह्मचर्य)

वयꣳसोम व्रते तव मनस्तनूषु बिभ्रतः। प्रजावन्तः सचेमहि ॥५६॥

पिछले मन्त्र में 'व्रतमय जीवन' की चर्चा थी। इस व्रत को प्रस्तुत मन्त्र में 'सोम का व्रत' कहा है। सोम के दो अर्थ हैं—(क) वीर्यशक्ति (ख) परमात्मा। वीर्यरक्षा के द्वारा ज्ञानाग्नि को समिद्ध करके ही हमें सूक्ष्म बुद्धि से उस प्रभु का दर्शन करना है **'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'**। हे **सोम**=शान्त प्रभो! **वयम्**=हम **तव व्रते**=तेरे व्रत में स्थित हुए, अर्थात् तेरी प्राप्ति के लिए सोम=वीर्य की रक्षा का पूर्ण ध्यान करते हुए **मनः**=अपने मन को **तनूषु**=शरीरों में ही **बिभ्रतः**=धारण करते हुए, अर्थात् मनों को इधर-उधर न भटकने देते हुए, भटकना तो क्या उसे शरीरों की शक्तियों के विस्तार (तत्) में लगाते हुए **प्रजावन्तः**=उत्तम प्रजाओंवाले अथवा उत्तम विकासवाले हम **सचेमहि**=आपका उपासन करते हैं। प्रभु के उपासन का क्रम यही है कि—१. हम सोम का व्रत धारण करें। 'हमें प्रभु को पाना है', ऐसा निश्चय करें और शरीर में सोम=वीर्य की रक्षा करें। २. मन को शरीर में ही धारण करें, इधर-उधर भटकने न दें। वह स्थूल, सूक्ष्म व कारणशरीर की शक्तियों के विकास में ही लगा रहे। ३. हम उत्तम प्रजावाले बनें। साथ ही हम प्रजा अर्थात् उत्कृष्ट विकासवाले हों। हम अपने में सात्त्विक शक्तियों का विकास करनेवाले बनें।

भावार्थ—हमारा मन सोम के व्रत में स्थित हो। यह इधर-उधर भटके नहीं। हम प्रकृष्ट विकासवाले हों।

ऋषिः—बन्धुः। देवता—रुद्रः। छन्दः—निचृदनुष्टुप्। स्वरः—गान्धारः॥

आखुस्ते पशुः

एष ते रुद्र भागः सह स्वस्त्राम्बिकया तं जुषस्व
स्वाहैष ते रुद्र भागऽआखुस्ते पशुः ॥५७॥

१. गत मन्त्रों में वर्णित मनोनिरोध के लिए प्राणसाधना मौलिक उपाय है। प्राणायाम से 'चित्तवृत्तिनिरोध' होकर मन का वशीकरण होता है, अतः प्रस्तुत मन्त्र को प्राणसाधना से प्रारम्भ किया गया है। हे **रुद्र**=प्राण! (रुद्राः प्राणाः) **एषः**=ये प्रभु **ते**=तेरा **भागः**=भाग हैं—सेवनीय हैं। तूने प्रभु की ही उपासना करनी है। २. प्राणों के द्वारा प्रभु का उपासन यही है कि प्राणसाधना से मनोनिरोध होता है और मनोनिरोध से प्रभु-साक्षात्कार। ३. **तम्**=उस प्रभु को **स्वस्त्रा**=(सु+अस्) उत्तमता से सब दोषों को परे फेंकनेवाली **अम्बिकया सह**=(अवि शब्दे) इस शब्दविद्या=वेदवाणी के साथ **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन कर। ज्ञानयज्ञ से प्रभु का उपासन सर्वोत्तम उपासन है। **स्वाहा**=(सु+आह) यह बात बहुत ही सुन्दर कही गई है। ४. हे **रुद्र**=प्राण! **एष**=यह प्रभु ही **ते**=तेरा **भागः**=उपासनीय—भजनीय है। यह **ते**= तेरा **आखु**=(आखमति =अवदारयति) सब दोषों का सुदूर विदीर्ण करनेवाला है। **ते पशुः** (पश्यति)=यह तेरा द्रष्टा है। तेरे दोषों का देखनेवाला और उनका नाश करनेवाला है। तू अपने दोषों को देख पाये या न, परन्तु प्रभु तो तेरे दोषों को देखते ही हैं। उनसे तेरा कोई दोष छिपा नहीं। वे तेरे इन सब दोषों को उखाड़ फेंकेंगे—भस्म कर देंगे।

भावार्थ—प्रभु ही सेवनीय हैं, ज्ञान-प्राप्ति से उनका उपासन होता है। वे प्रभु ही हमारे दोषों के द्रष्टा व नाशक हैं।

ऋषिः—बन्धुः। देवता—रुद्रः। छन्दः—विराट्पङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

त्र्यम्बकोपासन

अव रुद्रमदीमहयव देवं त्र्यम्बकम्।
यथा नो वस्यसस्करद्यथा नः श्रेयसस्करद्यथा नो व्यवसाययात् ॥५८॥

१. 'बन्धु' कहता है कि **रुद्रम्**=(रुत् र) हृदयस्थरूप से उपदेश देनेवाले उस प्रभु से **अवअदीमहि** (दीङ् क्षये, अवक्षाययेम—द०) हम अपने दोषों का नाश कराते हैं। पिछले मन्त्र में प्रभु को 'आखु'=दोषों का खनन—अवदारण करनेवाला कहा था। वे प्रभु हमारे दोषों को 'पशु' देखते हैं और उन्हें नष्ट करते हैं, अतः उपासना द्वारा हम उस प्रभु से अपने दोषों का क्षय कराते हैं। २. **देवम्**=दिव्य गुणों के पुञ्ज **त्रयम्बकम्**=(त्रि+अम्बक, अवि शब्दे) 'ज्ञान+कर्म+भक्ति' रूप तीन शब्दों के उच्चारण करनेवाले उस प्रभु से **अव**=हम अपने दोषों को दूर कराते हैं। वे प्रभु देव हैं—उनकी उपासना हमें भी देव बनाती है। वे प्रभु त्र्यम्बक हैं, उनका उपदेश यह है कि **ज्ञान**पूर्वक **कर्म** करो, यही मेरी **भक्ति** है। वस्तुतः इस सूत्र को अपनाने पर दोषों का तो प्रश्न ही नहीं रह जाता। ३. प्रभु के उपासन से हम अपने को निर्दोष बनाने का प्रयत्न इसलिए करते हैं कि **यथा**=जिससे **नः**=हमें **वस्यसः करत्**=वे प्रभु उत्तम जीवनवाला करें, **यथा**=जिससे **नः**=हमें **श्रेयसः**=कल्याण प्राप्तिवाला **करत्**=करें। **यथा**=जिससे **नः**=हमें **व्यवसाययात्**=निश्चयपूर्वक कर्मों के अन्त तक पहुँचनेवाला करें (षो अन्तकर्मणि), अर्थात् हमारे कार्यों में हमें सफलता प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—प्रभु उपासन के परिणाम निम्न हैं—(क) निर्दोषता (ख) उत्तम जीवन (ग) कल्याण व मोक्ष की प्राप्ति (घ) किये जानेवाले कार्यों में सफलता।

ऋषिः—बन्धुः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—स्वराड्गायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

भेषज

भेषजमसि भेषजं गवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजम्। सुखं मेषाय मेष्यै॥५९॥

१. गत मन्त्र में वर्णन है कि प्रभु के द्वारा हम अपने सब दोषों का क्षय कराते हैं। एवं, प्रभु की उपासना 'दोषराशिनाशनी' है। दूसरे शब्दों में वह 'भेषज' है। इसी भावना से प्रस्तुत मन्त्र का प्रारम्भ होता है। हे प्रभो! आप **भेषजम् असि**=औषध हो। 'भेषं रोगं जयति' हमारे सब रोगों को विजय करनेवाले हो। रोगों को समाप्त करके आप हमें नीरोग बनाते हो। २. हमें ही क्या! **भेषजं गवे**=हमारे घर की गौवों को भी नीरोग बनाते हो। इन नीरोग गायों के दुग्धसेवन से हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ (गावः) भी उत्तम बनती हैं, वे निर्दोष होती हैं। ३. (भेषजम्) **अश्वाय**=हमारे घोड़ों के लिए भी आप भेषज हो। इन नीरोग व सबल घोड़ों पर आरुढ़ होकर भ्रमण के लिए जाते हुए हम अपनी सब कर्मेन्द्रियों को सबल बना पाते हैं। (अथवा कर्मेन्द्रियाणि अश्नुवते कर्मसु)। ४. **पुरुषाय भेषजम्**=हे प्रभो! आप पुरुष के लिए 'भेषज' हो। जो पौरुषवाला होता है उसके भय को आप दूर करते हो (भेषृ भये)। ५. हे प्रभो! आप **भेषजं मेषाय मेष्यै**=भेड़ व भेड़ी के लिए भी सुख देनेवाले हो। स्वस्थ भेड़ों से हमें अपने शीत-निवारण के लिए ऊन के वस्त्र प्राप्त होते हैं। ६. यहाँ कपास-वस्त्रों का संकेत नहीं है, क्योंकि वे कपड़े पशुओं से प्राप्त नहीं होते। यहाँ पशुओं का क्रम होने से कपास का उल्लेख नहीं है। वैदिक संस्कृति में कपास के वस्त्रों का उल्लेख है ही कम। ७. यहाँ बन्धु की प्रार्थना समाप्त होती है। यह 'बन्धु' सब इन्द्रियों को मन द्वारा और मन को प्राणसाधना द्वारा बाँधकर उस प्रभु में बाँधता है। इस बाँधने से ही यह 'बन्धु' कहलाता था। अब पूर्ण रूप से बाँधकर वह वसिष्ठ=वशियों में श्रेष्ठ' बन जाता है और वसिष्ठ ही अगले मन्त्र में प्रभु से प्रार्थना करता है।

भावार्थ—प्रभो! आप भेषज हैं। आप हमें और हमारे गौ, घोड़े, भेड़, बकरी आदि पशुओं को नीरोग बनाइए।

ऋषिः—वसिष्ठः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—विराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

मृत्युञ्जय मन्त्र, वसिष्ठ का निश्चय

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्। उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मा ऽमृतात्।
त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम्। उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुतः॥६०॥

१. **त्र्यम्बकम्**='ऋग्यजुःसाम' मन्त्रों के द्वारा ज्ञान-कर्म व भक्ति का उपदेश देनेवाले प्रभु का **यजामहे** =हम पूजन करते हैं अथवा प्रभु को अपने साथ सङ्गत करते हैं (यज् सङ्गतीकरण) २. वस्तुतः **सुगन्धिम्**=वे प्रभु ही हमारे साथ उत्तम गन्ध=सम्बन्धवाले हैं। संसार के अन्य सब व्यक्तियों के सम्बन्ध में कुछ स्वार्थ है, प्रभु का सम्बन्ध स्वार्थ के लेश से भी शून्य है। ३. जितना-जितना प्रभु के साथ हमारा सम्बन्ध बढ़ता है उतना-उतना ही ये प्रभु **पुष्टिवर्धनम्**=हमारी पुष्टि का वर्धन करनेवाले हैं। ४. वसिष्ठ इस प्रभु से प्रार्थना करता है कि प्रभु के सम्पर्क से पुष्टि को प्राप्त होता हुआ मैं पूर्णतः परिपक्व होकर

मृत्योः=इस मरणधर्मा शरीर से **मुक्षीय**=इस प्रकार मुक्त हो जाऊँ **इव**=जैसे पूर्ण परिपक्व हुआ-हुआ **उर्वारुकम्**=खीरा **बन्धनात्** =बन्धन से मुक्त हो जाता है। (वृन्तं प्रसवबन्धनम्) जैसे पूर्ण परिपक्व हुआ कोई भी फल या फूल उसे शाखा से बाँधनेवाले वृक्ष से अलग हो जाता है, उसी प्रकार मैं पूर्ण पुष्टि को प्राप्त हुआ, मृत्यु से दूर हो जाऊँ और अमरता का लाभ करूँ। ५. **मा अमृतात्**=मैं मोक्ष से छूटनेवाला न होऊँ। इसी प्रार्थना को वसिष्ठ पुनः दुहराता है कि-

१. **त्र्यम्बकम्**=ज्ञान-कर्म व भक्ति के उपदेष्टा प्रभु की **यजामहे**=हम उपासना करते हैं। २. वे प्रभु ही **सुगन्धिम्**=हमारे उत्कृष्ट सम्बन्धवाले हैं। ३. ये प्रभु ही **पतिवेदनम्**=मुझे सच्चे पति-रक्षक को (विद् लाभे) प्राप्त करानेवाले हैं। वस्तुतः ये प्रभु ही मेरे सच्चे पति हैं। जीवात्मा पत्नी है, प्रभु पति हैं। पत्नी ने पति को प्राप्त करना है। उपासना ही उस प्राप्ति का उपाय है। ४. परन्तु यह उपासन व पतिवेदन इस संसार को छोड़कर ही होगा। कन्या भी पूर्वगृह को छोड़कर 'पतिगृह' को प्राप्त करती है, अतः वसिष्ठ प्रार्थना करता है कि जैसे एक कन्या **बन्धनात्**=नाना प्रकार के आकर्षणों व बन्धनों से बाँधनेवाले पितृगृह से इस प्रकार शान्ति से जाती है **इव**=जैसे कि **उर्वारुकं बन्धनात्**=एक परिपक्व फल अपने शाखा-बन्धन से अलग हो जाता है। इसी प्रकार मैं **इतः**=इस संसार-बन्धन से **मुक्षीय**=छूट जाऊँ। ५. **मा अमुतः**=इस संसार से परे उस प्रभु के सम्बन्ध से मैं कभी पृथक् न होऊँ। मैं अपने वास्तविक सम्बन्ध को पहचानूँ और उसे ही अपनाऊँ।

भावार्थ-प्रभु हमें 'ज्ञान-कर्म-भक्ति' का उपदेश देते हैं। वही हमारे सच्चे सम्बन्धी हैं । वे ही हमें पुष्ट करनेवाले या हमारे रक्षक हैं। मैं इस संसार-बन्धन से छूटकर प्रभु को ही प्राप्त करनेवाला बनूँ।

ऋषिः-वसिष्ठः। **देवता**-रुद्रः। **छन्दः**-पङ्क्तिः। **स्वरः**-पञ्चमः॥

अन्न व वस्त्र

एतत्ते रुद्रावसं तेन परो मूजवतोऽतीहि।
अवततधन्वा पिनाकावसः कृत्तिवासाऽअहिꣳसन्नः शिवोऽतीहि॥६१॥

१. हे **रुद्र**=हृदयस्थरूप से ज्ञान देनेवाले प्रभो! (रुत्+र) **एतत्**=यह आपसे दिया गया ज्ञान ही **ते** =आपका **अवसम्**=रक्षण है, रक्षा का साधन है। ज्ञान देकर ही तो आप उपासकों का रक्षण करते हैं। २. **तेन**=उस ज्ञान से **परः**=**(स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्)** सर्वोत्कृष्ट आप-ज्ञानियों को भी ज्ञान देनेवाले आप **मूजवतः**=(मुज मार्जने) पवित्रतावालों को **अति+इहि**=अतिशयेन प्राप्त होओ। प्रभु पूर्व-गुरुओं के भी गुरु हैं, क्योंकि वे सबसे 'पर' हैं, सबसे पहले विद्यमान हैं। इस ज्ञान के द्वारा ही वे प्रभु हमारा रक्षण करते हैं। प्रभु का यह ज्ञान पवित्र हृदयवालों को प्राप्त होता है। ३. **अवततधन्वा**=वे प्रभु अवततधन्वा हैं। **अव**=यहाँ-पृथिवी पर **तत**=विस्तृत किया है **धन्वा**=ओंकाररूप धनुष जिसने, ऐसे हैं। सब वेदों का सार यह 'ओम्' है, यह ऐसा धनुष है जो हमारे सब शत्रुओं को समाप्त कर देता है (प्रणवो धनुः, प्रणव=ओंकार)। ४. **पिनाकावसः**=(प्रतिपिनष्टि अनेन इति पिनाकम्=धनुः, अवस=रक्षण) प्रणवरूप धनुष से रक्षण करनेवाले वे प्रभु हैं। हम 'ओम्' का उच्चारण करते हैं और वासना विनष्ट हो जाती है। ओम् का स्मरण हमें पवित्र बनाता है। ५. **कृत्तिवासाः**=(कृत्तिः कृन्तन्तेर्वा यशः वा अन्नं वा) आप ही तो वस्तुतः अन्न व वस्त्र

देनेवाले हैं। आप अन्न और वस्त्र देकर **नः**=हमें **अहिंसन्**=न हिंसित करते हुए **शिवः**=कल्याणकर आप **अति इहि**=अतिशयेन प्राप्त होओ।

भावार्थ—'ज्ञान' रक्षण का सर्वप्रथम साधन है। वे परम प्रभु पवित्र हृदयवालों को प्राप्त होते हैं। 'प्रणव' रूप धनुष से हम वासनाओं के आक्रमण को विफल कर देते हैं। वे प्रभु 'अन्न और वस्त्र' प्राप्त कराकर हमारी हिंसा नहीं होने देते। वे कल्याणकर प्रभु हमें प्राप्त हों।

टिप्पणी—'अहिंसन्नः' का सन्धिच्छेद 'अहिं+सन्नः' करके 'साँप पर आसीन' होता है। इसी कारण विष्णु भगवान् सचमुच साँप पर शयन करनेवाले बन गये।

ऋषिः—नारायणः। **देवता**—रुद्रः। **छन्दः**—उष्णिक्। **स्वरः**—ऋषभः॥

त्रिगुण जीवन

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नोऽअस्तु त्र्यायुषम्॥६२॥

१. गत मन्त्र का 'वसिष्ठ' प्रणवरूप धनुष से अपना पूर्ण रक्षण करके अपने को पवित्र बनाता है और अब यह अपने 'शरीर-मानस व बौद्ध' तीनों जीवनों को बड़ा सुन्दर बनाकर लोकहित में प्रवृत्त होता है। लोकहित में प्रवृत्त होने से यह 'नारायण'=दुःखी नरसमूह का शरणस्थान बनता है। एवं, वसिष्ठ 'नारायण' बन जाता है और प्रार्थना करता है कि **'जमदग्नेः'**=जमदग्नि का **त्र्यायुषम्**=जो त्रिगुणित जीवन है, **कश्य-पस्य** =कश्यप का जो **त्र्यायुषम्**=त्रिगुणित जीवन है **यत्**=जो **देवेषु**=देवों में **त्र्यायुषम्**=त्रिगुणित जीवन है **तत्**=वह **त्र्यायुषम्**=त्रिगुणित जीवन **नः**=हमारा **अस्तु**=हो।

२. यदि मनुष्य शरीर के दृष्टिकोण से पूर्ण स्वस्थ है तो यह जीवन एकगुण है। इसके साथ मानस स्वास्थ्य के जुड़ जाने पर यह जीवन द्विगुण हो जाता है। इसमें बौद्धिक तीव्रता को जोड़कर इसे हम त्रिगुणित कर लेते हैं। तमोगुण का अविकृत रूप स्वास्थ्य का साधक है तो रजोगुण का अविकृत रूप मानस प्रेम की उत्पत्ति का सेतु बनता है और सत्त्वगुण बौद्धिक स्वास्थ्य को जन्म देता है। जिस जीवन में 'सत्त्व-रज व तम' तीनों ठीक रूप में हैं, वही जीवन 'त्र्यायुष' है।

३. इस त्र्यायुष का साधन करनेवाले 'जमदग्नि, कश्यप व देव' हैं। (क) जमदग्नि वह है जिसकी अग्नि=जाठराग्नि (वैश्वानराग्नि) जमत्=जीमनेवाली—खानेवाली अर्थात् खूब प्रज्वलित है। जिसकी जाठराग्नि कभी मन्द नहीं होती, वह रोगों से आक्रान्त नहीं होता। (ख) 'कश्यप' पश्यक है, द्रष्टा है। प्रत्येक वस्तु के तत्त्व को देखता है, विषयों की आपातरमणीयता से उनमें उलझता नहीं। इस न उलझने से ही वह कष्टों से बचा रहता है। (ग) 'देव' दिव्य गुणों को धारण करता है। मन में द्वेषादि मलों को नहीं उत्पन्न होने देता। 'जमदग्नि' यदि नीरोग शरीरवाला है तो 'कश्यप' उज्ज्वल मस्तिष्कवाला है और 'देव' दिव्य निर्मल मनवाला है। मनुष्य इस त्रिविध उन्नति को करके 'नारायण' बन पाता है। ये ही 'त्रिविक्रम' के तीन पग हैं। इन पगों को रखकर ही मनुष्य 'त्र्यायुष' बनता है और सच्चा लोकहित कर पाता है। त्र्यायुष शब्द में ३०० वर्ष तक जीने का भी संकेत हैं।

भावार्थ—हम 'जमदग्नि, कश्यप व देव' बनकर त्र्यायुष को प्राप्त करें।

ऋषिः—नारायणः। देवता—रुद्रः। छन्दः—भुरिग्जगती। स्वरः—निषादः॥

प्रभु का क्रियात्मक चिन्तन (वर्तन)

शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्तेऽअस्तु मा मा हिꣳसीः।
निवर्त्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय ॥६३॥

गत मन्त्र का नारायण ही प्रार्थना करता है—१. **शिवो नाम असि**=आप शिव नामवाले हैं, सभी का कल्याण करनेवाले हैं। २. **ते**=आपका **स्वधितिः**=अपना धारण स्वयं है। आपका धारण करनेवाला कोई और नहीं है। ३. **पिता**=आप हम सबके पिता=पालन करनेवाले हैं। **नमः ते अस्तु**=हम आपके प्रति नतमस्तक होते हैं। ४. **मा मा हिंसीः**=आप मुझे हिंसित मत करें। मैं कभी आपके क्रोध का पात्र न होऊँ। अपने उत्तम आचरणों से आपकी कृपादृष्टि ही प्राप्त करूँ। ५. **निवर्तयामि**=निश्चय से मैं प्रत्येक कार्य में आपको वर्त्तता हूँ। 'मेरे जीवन में आप अनावश्यक हों' यह बात नहीं। मेरा तो प्रत्येक कार्य आपके स्मरण के साथ होता है। क्यों? (क) **आयुषे**=उत्तम आयुष्य के लिए। आपके स्मरण से मेरा जीवन उत्तम बनता है। (ख) **अन्नाद्याय** =आद्य अन्न के लिए। मैं सात्त्विक अन्न का ही सेवन करता हूँ। आपका स्मरण करते हुए मांसादि भोजनों का प्रसङ्ग नहीं हो सकता। (ग) **प्रजननाय**=प्रकृष्ट विकास के लिए। आपके स्मरण से अवनति की ओर न जाकर मैं उन्नति की ओर ही चलता हूँ। (घ) **रायस्पोषाय**=धन के पोषण के लिए। प्रभु-स्मरण से हम सुपथ से उत्तम धन कमानेवाले बनते हैं। (ङ) **सुप्रजास्त्वाय**=उत्तम सन्तान के लिए। प्रभु को न भूलनेवाले पति-पत्नी सदा उत्तम सन्तानों को प्राप्त करते हैं। (च) **सुवीर्याय**=उत्तम वीर्य के लिए। प्रभु-स्मरण वासना को दूर भगाता है और मनुष्य वासना से ऊपर उठने के कारण वीर्यरक्षा करने में समर्थ हो पाता है। इसके वीर्य में वासनाग्नि उबाल नहीं लाती। ६. यह सुवीर्य नारायण ही वस्तुतः नारायण बनता है, लोगों का शरणस्थान बनने के योग्य होता है।

भावार्थ—'नारायण' प्रभु का स्मरण करता है और लोकहित के कार्यों में लगा रहता है। यह लोकहित का कार्य ही 'सर्वमहान् यज्ञ' है।

॥ इति तृतीयोऽध्यायः सम्पूर्णः॥